समय के पाँव
भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

Bhola Nath Sharma

# समयके पाँव

माखनलाल चतुर्वेदी

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

## दो शब्द

व्यक्तियोंसे बँधा होनेके कारण, यह संग्रह अधिक प्रगमनशील है। प्रतीत होता है इन व्यक्तियोंके जीवनने मेरे जीवनको रहन रख लिया था।

लाँगफेलो वहुत पहले लिख गया है कि महापुरुषोंके जीवन हमें यह स्मरण दिलाते हैं कि हम किस प्रकार अपने जीवनको ऊँचा उठा सकते हैं। इस पुस्तकके बहुतसे व्यक्तियोंने जो चरण-चिह्न छोड़े हैं, वे कभी मिट नहीं सकते। इसलिए 'समयके पाँव' पर मस्तक रखनेके सिवाय और कोई चारा नहीं दिखाई देता!

विस्तरेपर पड़े-पड़े मैं इतना ही लिखा सकता हूँ। इस समय तो मैं समस्त देशका ध्यान भारतकी उत्तरी सीमापर, नगाधिराज हिमालयपर खींचना चाहता हूँ। लोकमान्य तिलक, राष्ट्रपिता बापू, सुभाषचन्द्र बोस, और 'झाँसीकी रानी'की गायिका सुभद्रा कुमारी चौहानका इस पुस्तकके माध्यमसे जो गुण-स्मरण किया गया है, वह तभी सफल हो सकता है।

दीपावली
शनिवार, दिनांक २७।१०।६२

—माखनलाल चतुर्वेदी

# अनुक्रम

# तुम्हारी स्मृति

दुनियाकी मर्दुमशुमारी ग़लत हो रही है। यथार्थमें दुनियामें दो-चार ही गिने-चुनें जीव रहते हैं। उन्हींकी गिनती दुनियाकी गिनती है, और उन्हींका मत दुनियाका मत। कोई चालीस बरस पहलेसे देखते आये हैं कि एक उस ग़रीबने जिसे अपनी झोंपड़ी नसीब नहीं, और अमीरने भी जिसने ऋद्धि-सिद्धियोंको हाथ बांधे खड़ा पाया; उस बेपढ़ेने जिसके लिए हाथकी लकड़ी ही अलिफ़ थी, और उस पढ़े-लिखेने भी जिसको अपनी बुद्धि बेचकर रोटियाँ नसीब हो जाती थीं; उस किसानने जिसपर इन्साफ़के नामपर अत्याचार बढ़ते गये, और उस व्यापारीने जिसने केवल कच्चे मालकी दलालीपर अपनेको नीलाम पाया, बार-बार अपने हृदयको टटोला; बड़े जुलूसोंमें और जंगी मेलोंमें, कड़ी दुपहरीमें और ठण्डी रातोंमें, तेज़ खुश्कीमें और करारी बरसातमें, अपने हृदयको परखा और उसपर प्रकृतिके द्वारा कुछ खुदता पाया। एक दिन आया कि करोड़ोंने अपने दिलों-पर एक शब्द लिखा पाया। शब्द ऐसा था जो मिटाये मिटता नहीं, भुलाये भूलता नहीं, छुड़ाये छूटता नहीं, और वह था—'तिलक'।

बात, एक ही बात लेकर यह मूरत अखाड़ेमें उतरी। आफ़तमें जान थी। एक तरफ़ अज्ञानी जनता, और दूसरी तरफ़ जानकार सरकार। धार्मिक ? हाँ, वह धार्मिक था, और समाजसेवक भी। वह नीतिमत्तामें कम न था; और विद्वत्ता ऐसी अनोखी थी जिसपर मनुष्यता अभिमान कर सकती है, जहाँ ज्योतिषमें उसकी क़लम कमाल करती वहाँ साहित्यका वह आचार्य माना जाता। मातृभूमिके उपासकोंमें उसका दरजा उसी-को प्राप्त है और महाराष्ट्र प्रान्तकी सेवा करनेमें उसे 'वीर वाजी' कहने-वाले लोगोंकी संख्या कम नहीं। प्राचीनताका ऐसा उपासक कि वह आर्क-

टिकमें वेदोंकी उत्पत्ति बतलाता ।

और उन लोगोंका, जो हिन्दू धर्मके उपासक होते, साथ देता । चिढ़नेवाले चिढ़ सकते हैं कि उसने विलायतसे लौटकर प्रायश्चित्त किया; पर यह उसका अपनापन था, सचाई थी । पर, उसके लिए एक बात कहनी चाहिए । वह राष्ट्रीय भावोंका मतवाला था, और उन्हींपर मरना उसका काम था । पुरुषकी ताक़त एक ही काम ढूँढ़ती है और उसे पूरा करती है । परम पुरुषकी ताक़त जीवनका मिशन पूरा करती है और उसके लिए पृथ्वी और आकाश सबको साधन बना डालती है । धर्ममें धँसनेपर उसे कृष्ण और उसकी गीताकी ज़रूरत हुई, और जीवित वेदान्तको मथकर उसने राष्ट्रीयताका मक्खन निकाला । उसने ग़रीबोंका निवाज बननेमें इज़्ज़त समझी, और उनके कष्टोंको दूर करनेमें उसकी जान इस तरह लड़ने लगी जिस तरह गरमीके बाद बरसात होने लगती है । वह उनकी आवश्यकताएँ ढूँढ़ने लगा और धीरे-धीरे उनके हृदयोंमें पहुँच गया । अपने संचित पुरुषत्वको उसने समाजकी अवस्थासे रगड़ा और पैदा होनेवाली बिजलीको उसने क़लमके घाट उतारना शुरू किया । उसे गरम कहा जाता है; पर वह सच्चा था, धोखा-धड़ी पसन्द नहीं । उसकी बुद्धिने इसे स्वीकार नहीं किया कि कोई एक देश दूसरे देशको ग़ुलाम बनाये रहे ।

उसने परिस्थितिको बदलना चाहा । रास्ते दो थे । एक सचाईका जिसमें अज्ञानी जनता साथ न देती, अधिकारिणी शक्ति दुश्मनी भँजाती, और सब गुणों और सेवाओंके बदलेमें मिलती भूख, झिड़कियाँ, कष्ट और कठोर दण्ड । परन्तु हृदय चौबीसों घण्टे ईमानदार रहता और कहता, उद्धारके आधारकी सृष्टिके अवतारकी यही परिभाषा है । दूसरा रास्ता भी था । धीरे-धीरे काम चलाया जाता । दिखाया जाता कि अभी कुछ नहीं चाहते, पर मौक़ा ढूँढ़ा जाता है कि शत्रु हरा दिया जाये । आराममें खलल न पड़ने पाता, और मनसूबे ही में मौत हो जाती । उसे पहला मार्ग भाया, उसका सबसे बड़ा गुण विरोध-असहयोग रहा ।

उसने अपनी पूरी ज़रूरतें सामने रखीं और कभी टुकड़ोंपर मन नहीं ललचाया। वह धार्मिकोंमें पहुँचा और राष्ट्रीयताके जितने साधन प्राप्त हो सकते थे, उसने उनके चरणोंमें बैठकर प्राप्त किये। साहित्यको टटोला और जीवन-ज्योति जगमगानेवाली शक्ति उसमें भर दी। उसे उन सब गुणोंकी अपेक्षा थी, जिनसे राष्ट्रीयताको जीवन मिले; राष्ट्रीयता उसका धर्म था, और देशकी स्वाधीनता उसका ध्येय। वह अन्यायका आजीवन विरोधी रहा, और उसने अधिकार न मिलने तक अधिकारियोंसे मिलना पाप समझा। उसकी बुद्धि नीतिके उलझे हुए वायुमण्डलमें प्रवेश कर जाती और एक ऐसा तत्त्व उसे ढूँढ़ देती जो उसके धर्मको निबाहता और ध्येय-की ओर उसका क़दम बढ़ाता। वह जनताको मन्त्रमुग्ध किये रहता, और बिना हथियारोंका वह कर्मव्रती सिंहासन हिलाया करता।

उसके काम करनेके ढंग, धार्मिक सजीवता, व्यावहारिक सत्यता और ध्येयकी दृढ़ताने उसे उसके देशके पढ़ों और बे-पढ़ोंमें विश्वासकी चीज़ बना दिया। परिणाम यह हुआ कि ईसा और मुहम्मदके अनुयायियोंके समान बिना बनाये ही उसका एक दल बन गया। पर उसने अपने दलके दलको जनतापर इसलिए चढ़ाना प्रारम्भ किया कि उनके कष्टोंसे राष्ट्री-यताके पनपनेमें सहारा मिले। चरित्रकी उच्चतामें उसका लोहा शत्रुओंने भी माना। वह अवसरोंको उत्पन्न करता और उन्हें खाली नहीं जाने देता। संगठन उसका स्वभाव था, वह उचित कर्तव्योंके लिए उचित व्यक्तियोंकी योजना करता और उन्हें इतना अधिक अपना बना लेता कि संसारकी कोई मानवीय ताक़त उन्हें जीवनमें बरग़ला न पाती। 'जग-न्मिथ्या' के जड़ भावने उसके मार्गमें काँटे बोये और उसने अर्जुनके सारथी-को उसके उपदेशों समेत क़लमके कारागारमें बन्द कर दिया। उसने उसे साथ लिया और भारतीय धर्ममें आनेवाली मुर्दनीकी समयपर दुरुस्ती की। वह 'एक्स्ट्रीमिस्ट' कहा जाता है; किन्तु ईसा, मुहम्मद, अथवा गान्धीके समान अपनेको जगत्की सात्त्विकताकी एक्स्ट्रीम दुनियामें दुनियवी बनाकर

रहा; और किसी एक गुण और व्यवहारमें चरम सीमा न दिखलाकर प्रत्येक गुण और व्यवहारको पैदा होनेवाली परिस्थितियोंके साथ-साथ समान रूपसे विकसित करता रहा।

उसे ऋषि कहा जाता है : वह है भी। पर वह राजर्षि है, ब्रह्मर्षि नहीं। उसने गुणोंका दुरुपयोग नहीं किया; प्रकृतिके प्रदान किये हुए गुणका उसने सदुपयोग ही किया, वह चाहे राजाओंको शोभनेवाला रजोगुण हो, चाहे योगियोंको मोहनेवाला सतोगुण। स्वामी रामके कथनानुसार उसने तमोगुणकी भी अवहेलना नहीं की। एक अपनी दुनियाके सम्भव-शील निर्माताकी हैसियतसे उसने अपने अनुयायियों या जीवोंके आगे कोई ऐसी बात नहीं रखी जिसे वे असम्भव कहकर छोड़ सकें। उसने पहले तरह-तरहकी क्रियाएँ उत्पन्न करके भारतवर्षमें उलट-पलटकी परिस्थितियोंको निर्भीकता और सावधानतासे उत्पन्न किया। कभी उसने स्वदेशीकी आवाज़ उठाकर देशको 'क्रिएशन' ( उत्पत्ति ) के लिए उभाड़ा और कभी बाँयकाँटका हामी होकर क्रिएशनकी ताक़तमें अनेक-गुनापन ला दिया। इस तरह जहाँ शरीरोंको भारतीय करनेमें उसने ज़ोर दिखाया, वहाँ मनोंको भारतीय करनेके लिए जड़से प्रारम्भ किया यानी राष्ट्रीय शिक्षाका बीड़ा उठाया। उसने दिशा बना ली थी कि पहले शरीरपर स्वराज्य, फिर मनपर स्वराज्य, फिर कार्यपर स्वराज्य, फिर साथियों-पर स्वराज्य, और फिर समूचे देशपर स्वराज्य। गुलामी उसे पसन्द न थी, फिर वह किसीकी भी हो।

वह परम-मुक्ति, पूर्ण स्वाधीनताका उपासक था। इस काममें उसका संगठन बुरे और भले सब जीवों और पदार्थोंका उपयोग करता। परि-स्थितियाँ और व्यक्ति उत्पन्न करनेके बाद वह उनका संगठन करता। फिर धीरे-धीरे वह अपने संगठनको और उनकी परिस्थितियोंको बढ़ाता, और ऊँची बनाता, और अन्तमें सारी परिस्थितियों, व्यक्तियों और वस्तुओं-का अवतारी सूत्रधर बनकर उन्हें अपने ध्येयको निकटतम बनानेमें लगा

देता । जेल जाना, डब्ल्यू० टी० स्टेडके समान, उसके लिए साधारण बात थी । अत्याचारी शक्ति यह सुननेको तरसती रहती कि वह कमसे-कम एक बार दब जाये; पर दब जाना उसकी पढ़ी हुई किताबोंमें कदाचित् उसे लिखा नहीं मिला । राज तलवारोंके बलपर किये जाते हैं, पर उसने इसे झूठा सिद्ध किया । उसने सिद्ध किया कि कोई परायी ताक़त जनताकी इच्छाके बिना उसपर क़ब्ज़ा नहीं रख सकती । विरोधिनी ताक़तकी यह बड़ी भारी हार थी कि वह उस बावन वर्षके बूढ़ेको काले पानीकी सज़ा दे । इससे उसकी शक्ति और सजीवताकी परीक्षा हो सकती है ।

महाराष्ट्रका वह प्राण था । परन्तु उसने महाराष्ट्रको सीमारहित कर दिया था । उसकी आज्ञा पालनेमें, कश्मीरसे कन्याकुमारी तक सभी महाराष्ट्र हो गया था । एक अदृश्य शक्तिके समान उसकी सत्ता भारतीयोंके हृदयोंमें विहार करती और ज़मीन तथा झाड़ोंपर विदेशी ताक़तका साम्राज्य रहते हुए भी वह करोड़ों भारतीयोंका हृदयसम्राट् था । बड़ी-बड़ी शक्तियाँ उसके सामने सिर झुका देतीं और कहतीं, तिलकने मेरे व्यक्तित्वको अपने ध्येयकी सड़ककी गिट्टी बना डाला । उसकी सत्ताके भयसे इंग्लैण्डके न्याय देवताको इसीलिए अन्याय करना पड़ा कि तिलकके प्रति न्याय करनेसे ब्रिटिश शासनकी खैर नहीं । वह गत चालीस वर्षसे काममें लगा था और देशके गत चालीस वर्षोंका इतिहास उसका निजका इतिहास है । भारतका कठोर दुश्मन भी बार-बार तिलकका नाम लिये बिना गत चालीस वर्षोंका इतिहास नहीं लिख सकता, चाहे वह अपनी बुद्धिकी अनेक शक्तियोंका कितना ही उपयोग क्यों न करे ।

उसने देशको सजीवता दी और बार-बार मिटकर यह दिखाया कि पूर्ण स्वाधीनता ही भारतका जीवन है । वह इससे एक तिल भी कम लेनेके लिए राज़ी न था । वह भारतीय पार्लमेण्टका सपना देखता और अपने देशमें इंग्लैण्डकी जैसी नीतिमत्ता, अमेरिका-सा अध्यवसाय, और जर्मनी-सा संगठन लानेको प्रयत्नशील रहा । प्रतियोगी सहकारिताके लिए

वह उस दिन राज़ी हुआ जिस दिन उसके देशको कुछ अधिकारकी क़द्र मिली। किन्तु वह अधिकारोंकी क़द्र उसने यह घोषणा करके की थी कि मैं कौन्सिलमें नहीं जाऊँगा। गान्धीकी महान् आत्माने उसकी लोकमान्यता-को सिरपर लिया, लाजपतरायकी विजयिनी शक्तिने उसे मस्तक झुकाया, और मालवीयकी मंजुल मूर्ति उसके साथ रहकर धन्य हुई। उसने दिखाया कि एक दिनका स्कूलमास्टर, दूसरे दिनका सम्पादक, और तीसरे दिनका क़ैदी किसी देशका लोकमान्य भगवान् हो सकता है—उसी तरह जिस तरह एक दिनका क़ैदी, दूसरे दिनका ग्वालोंका गोपाल, और तीसरे दिनका सारथी भगवान् कृष्ण। जिस तरह उसकी शक्ति शास्त्र रच सकी उसी तरह यदि उसके देशके शस्त्र न छिने होते, तो उसने अपनी रण-कर्कशता-से भूमण्डलमें अपने आपको महान् सेनानायक और प्रचण्ड विजेता सिद्ध करनेमें कसर न की होती।

उसका जीव या उसके मिशनकी पूर्णताका दूत चाहे जैसा हो, चाहे जहाँ रहता हो, और चाहे जिस तरह रहता हो, तो भी उसपर प्रहार करनेवालेका पहला वार, अनुयायीपर पड़नेके पहले ही वह सम्हाल लेता। उसके जेल जानेका भी इतिहास यही है, और यही है उसकी छत्रछायामें निवास करनेवाले पुण्यात्माओंका उदाहरण। उम्रके बूढ़े, पर अपनी घोषणा-के अनुसार उमंगों और क्रियाओंके युवा तपस्वीने जबलपुरमें भाषण देते हुए कहा था, "मेरे दिन थोड़े हैं, तुम मेरे जीते जी स्वराज्य प्राप्त करो!" उस समय यह नहीं ज्ञात था कि उसके देशपर उसकी ज़िम्मेवारी इतने शीघ्र आ पड़ेगी और उसकी बतायी गयी विशेषताओंके अनुसार—राष्ट्रके मिशनके सिपाही उसकी ग़ैरहाज़िरीमें चुनने पड़ेंगे। पर हो वही गया। और आँसुओंको पोंछते हुए देशकी आशाएँ शीघ्र ही सैनिकोंकी सेनामें पूरी तेजस्वितासे खड़ा करती नज़र आयीं।

# भारतीय अशान्तिके जनक

लोकमान्य तिलकपर कुछ लिखना बाढ़मयी गंगाके तटपर खड़े होकर बूँदोंका रजिस्टर बनाने-जैसा कठिन है। जिस समय उनका स्वर्गवास हुआ था, उस समय उनके विरोधी प्रयागके अँगरेज़ी दैनिक पत्र 'लीडर' में उसके स्वनामधन्य सम्पादक स्वर्गीय श्री सी० वाई० चिन्तामणि-ने लिखा था कि लोकमान्य तिलक एक व्यक्ति नहीं, एक संस्था थे। महात्मा गान्धीके पूर्व भारतवर्षका सारा तेज और ओज लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकमें प्रतिबिम्बित, प्रतिष्ठित और प्रतिफलित हुआ था। उनका जन्म महाराष्ट्रके रत्नागिरि ज़िलेके दापोली तहसीलमें चिखलगाँव नामक स्थानमें २३ जुलाई १८५६ को हुआ था। उनका पालनेमें झूलते समयका नाम केशव था। किन्तु बच्चेको महाराष्ट्र परिवारमें बाल [बालक] कहकर पुकारनेकी प्रथा है। इसीलिए कदाचित् बड़े होनेपर लोकमान्य बाल कहलाये और महाराष्ट्रीय पद्धतिके अनुसार ही अपना तथा पिताका संयुक्त संक्षिप्त नाम हुआ बाल गंगाधर। तिलक उनका उपनाम था। लोकमान्यसे बड़े होनेपर किसी साथीने पूछा, तुम अपना केशव नाम क्यों नहीं लिखते ? तिलकने उत्तर दिया कि मेरी माँ मुझे 'बाल' कहकर ही पुकारती थी। इसलिए मुझे बाल कहलाना बहुत प्रिय है। पेशवाओंके ज़मानेमें दापोली तहसील स्वर्णदुर्गके नामसे पुकारी जाती थी। यह इलाक़ा कोंकणमें है। लोकमान्य कोंकणस्थ चितपावन ब्राह्मण परिवारमें पैदा हुए थे। उनके शिष्य स्वर्गीय श्री न० चि० केलकरके शब्दोंमें चितपावनोंपर फ़िनिक्स पक्षीकी उपमा बराबर लागू होती है। ग्रीक साहित्यमें यह माना गया है कि यह पक्षी चितासे उत्पन्न होता है, अकेला रहता है, भीड़-भाड़ इसे पसन्द नहीं होती, उड़ान बहुत

बड़ी होती है। यह भी कहा जाता है कि इस पक्षीका 'इच्छामरण' होता है। अपनी एक स्थितिसे ऊब आयी कि वह अपने ही पंख जला डालता है और अपनी चितासे वह तेजस्वी होकर फिर आकाशमें उड़ानें भरने लगता है।

उपमाओंके सम्राट् और उत्प्रेक्षाओंके कोमल पारखी केलकरजीका यह फ़िनिक्स पक्षीका उदाहरण कोई स्वीकृत करे या न करे, किन्तु लोकमान्यके जीवनसे तथा उनकी परिस्थितियोंकी रगड़से उत्पन्न होनेवाली भारतीय राष्ट्रीयताकी चिनगारियोंका नाम ही लोकमान्य तिलक है।

आन्दोलन-प्रियता मानो उनके स्वभावमें भरी हुई थी। वे महाराज शिवाजीके गुरु स्वामी रामदासके इस कथनके जाज्वल्य प्रतीक थे कि—

*सामर्थ्य आहे चलवलीचे,*<br>
*जे जे करील त्याचे,*<br>
*परन्तु तेथे भगवंताचे,*<br>
*अधिष्ठान पाहिजे।*

अर्थात् आन्दोलनमें सामर्थ्य है, उसे जो कर ले जाये वह सामर्थ्यशील है। आन्दोलन करते समय केवल भगवान्का अधिष्ठान चाहिए, यदि इस छन्दके आईनेमें देखें तो लोकमान्य तिलकके जीवनकी हलचलोंका गुप्त-सूत्र मिल जाता है।

लोग कदाचित् यह सोचते हैं कि स्वर्गीय लोकमान्य केवल राजनीतिक हलचलके जनक थे। हाँ, सर वैलेनटाइन शिरोल जैसे कड़वी हड्डियोंके अँगरेज़ने तो लोकमान्यको 'फ़ादर ऑव इण्डियन अन्रेस्ट' अर्थात् 'भारतीय अशान्तिका जनक' ही लिखा था। किन्तु जिस तरह गुलावका पौधा लड्डुओं और हलवेमें-से नहीं किन्तु कीचमें-से ही उगता है, काँटोंका ही शरीर वरण करता है, प्रतिकूल ऋतुओंमें भी हरियाता है और मस्तकपर कलियोंके मुकुट रखकर भी शरीरपर कंटकाकीर्ण भुजाओंको भोगता है, उसी तरह प्रत्येक महापुरुष और लोकमान्य भी, संकटोंसे खिचकर ही

अपने युगका निर्माण कर सके। लोकमान्य तिलक केवल क्रान्तिकारी ही नहीं थे जिन्होंने संघर्ष उत्पन्न किये हों और फिर चुपचाप अनुकूल परि-स्थितियोंकी प्रतीक्षामें छिप गये हों। वे क्रान्तिवादी लेखक थे, क्रान्तिवादी वक्ता थे और क्रान्तिद्रष्टा थे। लेखनीके चमत्कार और वाणीके वैभवको वे अभिशापकी तरह लेते, और वरदानकी तरह एक युग-निर्माण कर रख देते थे। यदि भारतीय स्वतन्त्रताकी आवाज़ उन्होंने लगायी तो अपने नगर पूनामें शिक्षण-संस्थाओंका निर्माण भी उन्होंने किया। एक बार उनसे किसी मित्रने पूछा कि भारतमें स्वराज्य मिल जाये तो आप अपने लिए कौन-सा विभाग चुनेंगे? उस समय शील मानो लोकमान्यके हर शब्दपर भारतीय संस्कृतिका अमृत भाण्ड लेकर खड़ा हो गया। बोले, "मैं तो स्वराज्य सरकारके किसी कॉलेजमें गणितका अध्यापक हो जाऊँगा।" क्या महत्त्वाकांक्षाके जीर्ण-ज्वरसे पीड़ित आजके अधिकांश राजनीतिज्ञोंमें इस शीलको कहीं ढूँढ़ा जा सकता है?

तिलक बचपनसे ही मेधावी थे। उनके पिता गंगाधरराव स्कूलोंके इन्स्पेक्टर थे। उनको अपने पुत्रके मेधावी होनेकी सूचना उसकी एक छोटी-सी शरारतसे मिली थी। एक दिन बालक बलवन्त स्कूलमें पढ़ने नहीं गया। कहते हैं कि उस दिन उसके पिताजी दौरेपर गये थे। वे गरमीके दिन थे। ज्यों ही वे दौरेसे लौटे, त्यों ही पुत्रके स्कूल न जानेकी खबर उन्हें दी गयी। जिस तरह धनिक अपने धन, और राजनीतिज्ञ अपनी मह-त्त्वाकांक्षासे पराजित होता है, उसी तरह विद्वान्‌का क्रोध है। यदि सन्तवर विनोबाके शब्दोंको उधार लें तो "विद्वत्ताका दीपक जलाया कि क्रोधका काजल आया" सो गंगाधररावजीने क्रोधित होकर अपने पुत्र-श्रीको सामने उपस्थित करनेकी आज्ञा दी। नन्हें-से तिलक आये, किन्तु उस भरी गरमीमें पूनाके कठोर जाड़ोंमें पहननेका रूई-भरा हुआ मोटा अंगरखा पहनकर। सूझको ईमानकी तरह प्यार करनेवाले पिता, बालक बलवन्तकी शरारतसे बाग-बाग हो गये। उन्होंने कदाचित् समझ लिया कि यह प्रतिभा ताड़नाकी

वस्तु नहीं है ।

अपने राजनीतिक विश्वासोंके कारण विदेशी सरकारके द्वारा लोकमान्य तिलक जीवन-भर कष्ट सहने और बार-बार जेलखाने जानेके लिए बाध्य रहे। जो ज़माना लोकमान्यको काम करनेके लिए मिला वह ऐसा था कि उस समयके सरकार-प्रेमी आन्दोलनकारी, 'गँवारोंके नेता' कहकर उनका मज़ाक़ उड़ाते, परिचित राजनीतिक संकटसे भयभीत होकर उनके पास न आते, उनके स्वयंके द्वारा निर्मित डेक्कन एज्युकेशन सोसाइटी-जैसी संस्थाओंमें ब्रिटिश सरकार-द्वारा षड्यन्त्र रचे जाते और लाचार होकर लोकमान्यको इस्तीफ़ा देना पड़ता। जब कष्टोंका सह्याद्रि पर्वत वे अपने सिरपर उठा लेते, तब लोग क्योंकर उनके साथ होते ! हाँ, लोग मन-ही-मन उनकी पूजा करते, उन्हें अवतार समझते, किन्तु उनके जेल जानेपर प्रायः कोई न जाता। जब उनको सन् १९०८ में देश-निकालेकी सज़ा हुई तब हममें-से कुछ लोगोंने दाढ़ियाँ बढ़ा लीं, कुछने शक्कर खाना छोड़ दिया, कुछ उपासनामें तल्लीन हो गये, किन्तु कोई लोकमान्य तिलकके असिधारा-व्रतका अनुकरण करनेका साहस, जेल जानेका साहस, उस समय तो न कर सका। यह तबतक न हुआ जबतक संकटोंका सामना करनेके उसके यथार्थ उत्तराधिकारी और उस युगके कर्मवीर मोहनदास करमचन्द गान्धी क्षेत्रमें नहीं आ गये। लोकमान्य तिलकके स्वर्गवासकी तिथि भी विचित्र रूपसे सारपूर्ण और सन्तोंके समस्त कार्योंके समान रहस्यमयी है। जिस दिन गान्धीजी राष्ट्रव्यापी सत्याग्रहकी प्रथम राजनीतिक घोषणा करते हैं, मानो उसी क्षणके लिए लोकमान्यने अपने प्राणोंको रोक रखा था। तिथियाँ थीं : मृत्यु-तिथि और आन्दोलनकी तिथि ३१ जुलाई और पहली अगस्तकी सन्धि, १२ बजे रातके पश्चात् ।

लोकमान्यके विधायक कार्यक्रममें चार मुख्य बातें थीं। विश्वकी सतह पर चाहे रूस-निवासी महर्षि टॉलस्टॉय हों या लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, उस समय तो योजना व्यक्त करना ही सम्भव था। मार्क्सके कथन

के कितने वर्षों बाद रूसमें साम्यवादी शासन क़ायम हो सका ? प्रतिभाकी विचार-जननीको व्यवहारकी जमीनपर उतारनेके लिए समयकी आवश्यकता होती ही है। युग तो मौसमकी तरह ही चलते आये हैं। मार्गशीर्षमें अमरूद और वसन्त तथा ग्रीष्ममें ही आम फलते और पकते देखे जाते हैं। हाँ, तो लोकमान्य तिलकके राजनीतिक जीवनके चार विशेष ध्येय थे। उनके विधायक कार्यक्रमके चार अंग थे—स्वदेशी आन्दोलन, बॉयकॉट, राष्ट्रीय शिक्षा, और स्वराज्य। चतुर पाठकोंसे यह बात छिपी न रहेगी कि अपने विधायक कार्यक्रमकी परम साधना करते हुए इन चारों उद्देश्योंको बापूने, महात्मा गान्धीने, पूर्ण रूपसे उठा लिया था। लोकमान्य तिलकके पास भी ये चारों तत्त्व विरासतमें आये थे। इस देशकी राजनीतिके महान् वृद्ध पितामह दादाभाई नौरोजी थे। वे सन् १९०६ में कॉंग्रेसके कलकत्ता अधिवेशनके अध्यक्ष हुए। अपने अध्यक्षीय भाषणमें उन्होंने इन सूत्रोंका उल्लेख किया था। इस तरह सन् १६२७ में अँगरेज़ोंके इस देशमें पैर रखनेके पश्चात् सन् १९०६ में, पहली बार, कांग्रेसके अध्यक्षने भारतवर्षकी ओरसे स्वराज्यकी माँगका आचरण नहीं उच्चारण किया था अर्थात् अँगरेज़ोंके सामने स्वराज्य की बात कहनेमें भारतवासियोंको दो-सौ उन्यासी वर्ष लगे जब कि उन्होंने अपनी संगठित संस्थाके द्वारा, नरम और गरम दलके संयुक्त दलोंके बीच, स्वराज्यकी माँग की।

उनके बारेमें लिखनेवाले एक लेखकने लिखा है कि लोकमान्य स्कूल-मास्टर-जैसे सख्त दीख पड़ते हैं। किन्तु उस युगमें भी लोगोंने इस बातका विरोध किया था, और आज भी यह बात सच नहीं मालूम होती। लोकमान्य विनोदी स्वभावके थे। एक बार अपने बच्चोंमें बैठे वे चाय पी रहे थे। बच्चे-बच्चियोंकी और उनके पिता श्री लोकमान्यकी बातचीत कुछ इस तरह हुई,

बच्चा : "बाबा हम तो चायके साथ बिसकिट खाते हैं, तुम चायके साथ कुछ नहीं लेते ?"

बाबा : "कौन कहता है कि मैं कुछ नहीं लेता ? मैं भी लेता हूँ।"

बच्चा : "रोज़ ?"

बाबा : "हाँ, रोज़ ?"

बच्चा : "हमको तो नहीं दिखता, क्या लेते हो तुम ?"

बाबा : "अरे, मैं रोज़ चायके साथ समाचारपत्रोंमें दी गयी गालियाँ खाया करता हूँ।"

जब लोकमान्यको सन् १९०८ में देश-निकाला हुआ तब उन दिनों भी, सुदूर माण्डलेमें रहते हुए, वे 'गीता-रहस्य' की रचना करते रहे।

लोकमान्य तिलकको समझनेके लिए उनकी बहुमुखी प्रवृत्तियोंकी ओर हमारा ध्यान रहना चाहिए। आर्य जातिके गौरवकी रक्षा करनेके लिए उन्होंने वेदोंमें आर्योंका निवास-स्थान आर्कटिक समुद्रके आस-पास बतलाया था, और विद्वत्तापूर्ण प्रमाणों और तर्कोंसे उसे प्रमाणित किया था। इस विषयमें उनका ग्रन्थ है 'आर्कटिक होम इन द वेदाज़'। लोगोंको कर्म-योगकी तालीम देनेके लिए उन्होंने 'कर्मयोग-रहस्य' के नामसे गीता-रहस्य लिखा जिसका अनुवाद पूज्य स्वर्गीय पं० माधवराव सप्रेने किया था। महाराष्ट्रमें पुराने गणेशोत्सवको लेकर उसमें इस प्रकार नये प्राण फूँके कि जिससे आतंकित होकर ब्रिटिश गवर्नमेण्टने कितनी ही बार गणे-शोत्सवोंका होना रोक दिया। सच तो यह है कि नये हों या पुराने, सामा-जिक उपकरण कर्मयोगीके हाथ पड़कर युगके अनुकूल फल देनेके लिए बाध्य हो जाते हैं।

जब लोकमान्य माण्डले जेलसे छूटने लगे तब जूनका महीना था। २४ जून १९०८ को उनको सज़ा हुई थी और जून १९१४ को छह सालके देश-निकालेके बाद उन्हें छोड़ देना चाहिए था। उन दिनों कितने ही कालेपानीके आजीवन क़ैदी, जिन्हें बीस वर्षकी सज़ा दी जाती थी, चौदह वर्ष-में छोड़ दिये जाते थे। भारतीय जेलोंके साधारण क़ैदियोंको भी छह महीने-की सज़ा काटनेके पश्चात् अच्छे चाल-चलनके लिए प्रतिमास प्रायः चार

दिनोंकी रियायत सज़ामें मिलती है। प्रतिमास वे चार दिन सज़ामें-से कम कर दिये जाते हैं। इस तरह लोकमान्य यदि ब्रिटिश गवर्नमेण्टकी नज़रमें अच्छे चाल-चलनवाले होते तो उन्हें सात महीने छह दिनकी छूट मिलनी चाहिए थी, और इस तरह उन्हें नवम्बर १९१३ की १८ तारीखको छोड़ देना चाहिए था। किन्तु उन्हें डाकू और हत्यारोंसे भी बदतर माना गया। वे छोड़े गये कदाचित् तारीख़ १७ जून १९१४ को, अर्थात् उनकी सज़ा पूरी होनेके केवल छह दिन पहले। सातवें दिन तो उन्हें छूटना ही था! सरकार उन्हें रंगूनसे कलकत्ता नहीं लायी, इसलिए कि सारे देशमें हल्ला मचेगा। समुद्रमें भारी तूफ़ान होते हुए भी उन्हें रंगूनसे मद्रास, समुद्रके रास्ते, लाया गया और मद्राससे उन्हें पूना ले जाया गया। किन्तु लोकमान्यको न छोड़कर यह प्रचार तो सरकारने ही होने दिया था कि जून सन् १९१४ में लोकमान्य छूटेंगे। लोकमान्य राजद्रोहमें जेल गये थे; किन्तु उन्होंने अँगरेज़ों या ब्रिटिश-शासनके ख़िलाफ़ ओछे शब्दोंका उपयोग नहीं किया था। उनका एकमात्र अपराध था उनका भारतवासी होना। कहा यह गया कि लॉर्ड मिण्टो अपने वाइसराय-कालमें लोकमान्यको छोड़ देना चाहते हैं, किन्तु बम्बईका गवर्नर सिडेनहम लोकमान्य तिलकका छूटना पसन्द नहीं करता था। ईसीलिए लोकमान्य तिलक लॉर्ड मिण्टोके चले जानेके बाद वाइसराय लॉर्ड हार्डिङ्के ज़मानेमें छूटे। जिन दिनों लोकमान्य तिलकको कालापानी हुआ था, उन्हीं दिनों एक मिस्टर मेलियस नामके अँगरेज़ने स्वयं बादशाहके ख़िलाफ़ अपने 'लिबरेटर' पत्रमें राजद्रोही लेख प्रकाशित किये थे; किन्तु उसे केवल नौ माहकी सादी सज़ा दी गयी। उन्हीं दिनों लारकिन नामके एक अँगरेज़ मज़दूर-नेताको प्रत्यक्ष राजद्रोहका दंगा करनेपर, और यह स्पष्ट कहनेपर कि मैं स्वयं विद्रोही हूँ, मेरा बाप भी विद्रोही था, राजा और सरकारका हुक्म तोड़ना, उनकी आज्ञा-भंग करना मैं अपना पवित्र कर्तव्य समझता हूँ—सज़ा मिली केवल कुछ हफ़्तोंके कारावासकी। सर एडवर्ड कारसनका उन दिनोंका मुक़दमा तो सबपर प्रकट है। कारसनने

हथियार एकत्रित किये, बारूद और गोले जमा किये और ब्रिटिश राजाके खिलाफ़ षड्यन्त्र किया तो भी उस ज़मानेके इंग्लैण्डके मन्त्रिमण्डलने 'सर' की उपाधि छीन लेनेके सिवाय एडवर्ड कारसनका और क्या बिगाड़ लिया ? सत्य तो यह है कि लोकमान्यकी यन्त्रणाओंका कारण लोकमान्यका राजद्रोह नहीं था, किन्तु गुलाम भारतीय जनतामें विद्रोह न करनेकी कमज़ोरी थी। उसीके कारण अँगरेज़ अपराधी भयंकर होकर भी फूल-जैसी सज़ा पाकर रह जाता था, और भारतीय नेता प्रतिष्ठित होकर भी देश-निकालेकी सख्त सज़ा पानेको बाध्य था। नहीं तो लोगोंको भड़कानेका जो अपराध लोकमान्यपर लगाया गया और पारसी समाजके जस्टिस दावरने, जूरीमें मतभेद होते हुए भी, जो सज़ा लोकमान्यको सुनायी वह दावर ही के तर्कसे असंगत थी। स्वर्गीय जस्टिस दावरका तर्क था कि भारतवर्षकी अज्ञानी जनताको भड़काया गया। किन्तु जनता अज्ञानी थी। ब्रिटिश गवर्नमेण्टके जनताको अज्ञानी रखनेके वरदानोंके कारण जनता भड़क ही नहीं सकती थी; और न वह भड़की। इस तरह सज़ा देना अर्थहीन हो गया। किन्तु इस विषयमें दण्डकी आज्ञा सुननेके पश्चात् लोकमान्यने जो कहा वह सचमुच भारतवर्षकी नाड़ी परखनेवाले नेताके योग्य ही था। उन्होंने कहा कि जूरी-ने यद्यपि मुझे दोषी ठहराया है तथापि मेरा अन्तरात्मा मुझसे कहता है कि मैं निर्दोष हूँ। आपसे भी ऊपर एक शक्ति है जो विश्वका नियमन और न्याय करती है। उसकी इच्छा है कि मैं कष्ट भोगूँ और जनताको लाभ पहुँचाऊँ! और आज इस बातसे कौन इनकार करेगा कि लोकमान्य तिलकके पश्चात् महात्मा गान्धीके आन्दोलनने बच्चों तकके लिए भारतकी ब्रिटिश जेलोंको खिलवाड़ नहीं बना दिया था ?

उन दिनों लोकमान्य तिलक अँगरेज़ोंके लिए महान् भयंकरता थे। जब लोकमान्य कलकत्ता कांग्रेससे लौटे, तब इलाहाबादमें उनके स्वागतके लिए सभा की गयी। इन पंक्तियोंका लेखक उन दिनों प्रयागमें था। उनकी सभाके लए एक विद्यालय-भवनका कमरा अधिकारियों-द्वारा 'हाँ' कहनेके बाद

भी नहीं दिया गया। एक नरम नेताने उस सभाके लिए शतरंजियाँ भी नहीं मिलने दीं। परिणामतः सभा एक सज्जनके निजी बँगलेमें हुई। उस सभाकी सफलतापर तत्कालीन अँगरेज़ी सरकार-समर्थक और उन दिनों तक अँगरेज़-द्वारा सम्पादित 'पायोनियर' इतना भड़का कि उसने आश्चर्य और क्रोधमें लिख मारा कि एक क्रान्तिवादीकी सभामें तीन हज़ार आदमी! उसने उस समय तत्कालीन अँगरेज़ सरकारको भी भला-बुरा कहा था। किन्तु उसी अँगरेज़ सरकारको गान्धी-युगमें शासन-प्रणालीको जड़से उखाड़नेके भाषण सुनने और विद्रोही जनताकी लाखोंकी उपस्थितिके दिन देखने पड़े। तथा उसे वीरवर सुभाष बोसके रूपमें अँगरेज़ोंके खिलाफ़ युद्धस्थलमें संगठित सशस्त्र विद्रोह भी देखना पड़ा। लोकमान्य और महात्माजीमें जो लोग विरोध देखते रहे हैं उन्होंने न लोकमान्यको पहचाना न भारतवर्षको।

'लोकमान्य' इस देशकी प्रतिभा, चरित्र और यातनामयी स्वराज्य साधनाकी अनवरत सिद्धिका सम्मिलित नाम हैं। गान्धीजी सत्य और अहिंसाको मानकर चले; और लोकमान्य इस देशकी अवतार-परम्पराके अनुकूल यह बाना लेकर चले कि जहाँ देशभक्त होगा, या भारतीय स्वतन्त्रताका इच्छुक होगा, वहाँ वह लोकमान्य तिलकका सहारा पाता रहेगा, भले ही वह किसी दलमें हो। ४ नवम्बर १९१९ को ब्रिटिश मज़दूर दलके नेता तथा 'डेली हेरल्ड' के सम्पादक श्री लान्सबरीने उन्हें लिखा था, "आप जब इंग्लैण्डमें थे तब आपके साथ काम करनेका गौरव और आनन्द दोनों मुझे मिले। आपकी अपने देशके प्रति निष्ठा सचमुच अपूर्व है। हम और आप भले ही दो दीखें, अन्तरमनमें तो हम एक ही हैं।" कर्नल वेजउडने अपने ६ नवम्बर १९१९ के पत्रमें लिखा, "यहाँ, इंग्लैण्डमें, वर्ण-द्वेष कम होता जा रहा है और भारतवर्षमें गोरे लोगोंकी उद्दण्डता अब नहीं चलेगी।" किन्तु वेजउड महाशयने यह भी स्पष्ट लिख दिया था कि "मज़दूर पक्षके भरोसे रहना भी बहुत बुद्धिमत्ताकी बात नहीं है। कल यदि

मजदूर दलका मन्त्रिमण्डल बने तब भी बात तो वह की वही रहेगी। मैं अपने ही दलके सम्बन्धमें इतनी कटु बात लिखूँ, इसका मुझे भी दुःख है। किन्तु इस पक्षमें भी आदर्शपर चलनेवाले लोग बहुत कम हैं।"

इस समय मैं स्वातन्त्र्य वीर सावरकरजीके भाई श्री गणेश दामोदर सावरकरके एक पत्रके कुछ वाक्य उद्धृत करना चाहूँगा जो उन्होंने फ़रवरी १९२० को कदाचित् अण्डमनसे लोकमान्यके पास पहुँचाया था। उसमें यह भी लिखा था कि "साम्राज्यके अन्तर्गत स्वराज्यका ध्येय हम लोगोंको घृणा करने-जैसा नहीं लगता। यही नहीं, वह तो आज भी हमारी आकांक्षाओंका ध्येय है। अधिक क्या, हमें तो लगता है कि विश्व-बन्धुत्व भी होना चाहिए। सम्पूर्ण पृथ्वीका एक ही राष्ट्र, उसके स्त्री-पुरुष एक ही घरके पारिवारिक; और इस सृष्टिके सब पदार्थोंका लाभ सबको समानतासे मिले—हमारा यही मत है।"

इस पत्रमें साम्प्रदायिकता, हिन्दू हठवादिता आदिका कहीं नाम नहीं। लोकमान्यके नामपर १५ अप्रैल १९१९ को मिस्टर ऐटलीका जो पत्र आया था वह सूझ-बूझकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वका माना जाना चाहिए, क्योंकि उस पत्रके लिखे जानेके अट्ठाईस वर्ष और चार महीनेके पश्चात् इन्हीं ऐटलीके ही प्रधान-मन्त्रित्वमें भारतवर्षको स्वराज्य प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने पत्रमें एक वाक्य यह लिखा था कि "मैं भावनासे होम-रूलर हूँ।" यह लोगोंको ध्यानमें होगा ही कि स्वराज्यकी हलचलको और अधिक बलवान् बनानेके लिए लोकमान्य तिलकने उन दिनों आन्दोलनकारी भारत-वासियोंकी संस्था क़ायम की थी, 'होम-रूल लीग', और महात्मा गान्धीने लोकमान्य तिलकके स्वर्गवासके एक मास पहले ही होम-रूल लीगकी अध्यक्षता स्वीकार की थी। श्री ऐटलीके पत्रका दूसरा वाक्य जो मैं उद्धृत करना चाहता हूँ वह है, "यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि आगेके कुछ वर्षोंमें विश्वके अनेक लोगोंका ध्यान भारतवर्षकी ओर जायेगा।" इतनी दूर-दृष्टि-का पत्र लोकमान्यके विदेशी पत्रव्यवहारकर्ताओंमें शायद ही किसीका

हो। लोकमान्यकी लन्दनकी हलचलोंसे उस समय भारतीय स्वराज्यका ऐसा वातावरण जागृत हुआ कि ४ सितम्बर १९१९ की लन्दनकी भारतीय काँग्रेसकी रिपोर्टमें यह भी लिखा आया है कि "नरम दलके प्रतिनिधियोंने लन्दनमें अपना कार्यालय बन्द कर दिया है। और वे भारतकी बात सोच रहे हैं।"

लोकमान्य तिलक प्रत्येक क्षण भारतीय स्वतन्त्रताको और भारतीय संस्कृतिको एक-दूसरेकी पूरक समझते रहे। यह उनके स्वराज्य आन्दोलन और उनके सांस्कृतिक-ग्रन्थोंकी रचनासे स्पष्ट दिखायी देता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभाका अभिनन्दन स्वीकार करते हुए लोकमान्यने हिन्दीको राष्ट्रभाषा स्वीकार किया था। केवल वे स्वराज्यकी भाषामें 'बाणेदारपणा' (तेजस्विता) आवश्यक मानते थे। और जब इन पंक्तियोंके लेखकके सभापतित्वमें सन् १९३१ में नागपुर विश्वविद्यालयकी साहित्य-समितिमें तत्कालीन उपकुलपति लेफ़्टिनेण्ट कर्नल केदार महाशयने सभापतिके नामका प्रस्ताव उपस्थित करते हुए हिन्दी भाषाको बधाई दी कि उसमें 'बाणेदारपणा' बहुत है, तब सभाके सभापतिने केदार महाशयको धन्यवाद देते हुए कहा था, "मैं हिन्दीके प्रति आपके कथनका कृतज्ञ हूँ, क्योंकि लोकमान्य तिलक हिन्दीमें यही गुण चाहते थे।"

यह लेख अधूरा रहकर भी और भी अधूरा रह जायेगा यदि मैं यह उल्लेख न करूँ कि देशमें एक राष्ट्रीय-मण्डल स्थापित था, जो लोकमान्य तिलकके विचारोंके अनुकूल गतिविधियोंका संचालन करता था, मध्यप्रान्तमें उसका संचालन स्वर्गीय डॉक्टर मुंजे किया करते थे, और बैरिस्टर अभ्यंकर, डॉ० खरे, श्री बारलिंगे, डॉ० चोलकर, डॉ० परांजपे तथा अन्य कितने ही सज्जन उस मण्डलके सदस्य थे, लोकमान्य तिलकके प्रसिद्ध मराठी पत्र 'केसरी'का हिन्दी संस्करण नागपुरसे निकलता था जिसके सम्पादक पूज्यवर पण्डित माधवराव सप्रे थे तथा जिसमें आजके आयुर्वेद पंचानन वयोवृद्ध पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, स्वर्गीय पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि

कितने ही सज्जन काम करते थे। लोकमान्यके दलके हिन्दी-जंगत्में काम करनेवाले बलवान् व्यक्ति रहे हैं साहित्य-वाचस्पति आचार्य पं० अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी। उनकी लेखनी 'भारत-मित्र' के द्वारा, तथा उसके पश्चात् भी, उस राष्ट्रीय तेजस्विताको व्यक्त करती रही है जिसका लोक-मान्य तिलकके युगमें अभिषेक हो चुका था।

लोकमान्यके मतका समर्थन अँगरेज़ी दैनिकोंमें 'अमृतबाज़ार पत्रिका', तथा देशके कितने और पत्र करते रहे। हमें यह सदैव ध्यानमें रखना चाहिए कि महात्मा गान्धीने लोकमान्य तिलकके पश्चात् उनके स्वाधीनताके संकल्पको पूर्ण किया, और लोकमान्य तिलक जो देशव्यापी बल और प्रवाह, तथा स्वराज्यकी जो उत्तेजना इस देशमें छोड़ गये थे, उस मूलधनको यदि महात्मा गान्धी-जैसा चतुर मार्गदर्शक न मिलता, तो भारतीय स्वतन्त्रता पिस्तौल चलानेवालों और तेज़ बोलनेवालोंका एक अनवरत उद्योग मात्र ही बनी रहती। जिस पीढ़ीने स्वराज्य प्राप्त किया है उसने महात्मा गान्धीकी भुजाओंमें खेलकर प्राप्त किया है, किन्तु उसका उत्तराधिकार यह है कि वह लोकमान्य तिलकके कन्धोंपर बैठकर आयी थी।

चरित्र, निर्भीकता और राष्ट्रके बलके नाते षड्यन्त्रकारी लोगों, विदेशोंके भारतीय आन्दोलन, भारतीय स्वतन्त्रताके विदेशी आन्दोलन, सबको लोकमान्य तिलकसे प्रेरणा और सहायता मिलती रही। एक युग था जब स्वर्गीय अरविन्द घोष और उनके दलके अन्तरंग समर्थक केवल लोकमान्य तिलक थे और ये सब उनके अनुयायी थे।

भारतीय स्वतन्त्रताकी नींव रखनेवाले चरणोंमें शत-शत वन्दन।

# महात्मा गान्धी

## १

महात्मा गान्धीको सबसे पहले मैंने लखनऊकी कांग्रेसमें देखा था। उन दिनों वे मोहनदास करमचन्द गान्धी कहलाते थे। देशकी राजनीतिके सूत्रधार नरम दलकी तरफ़से उन दिनों सर फ़ीरोज़शाह मेहता थे। वे लखनऊ आये हुए थे। सूरतमें सन् १९०७ में झगड़ा होनेके वाद कांग्रेस सर फ़ीरोज़शाह मेहता और स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखलेके नरम दलके हाथोंमें थी और लखनऊमें ही नरम और गरम दोनों दल मिले। दूसरी ओर देशकी नयी पीढ़ीका भाग्य-विधायक गरम दल था। उस दलके नेता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक थे जो काले पानीकी सज़ा काटकर बर्माकी माण्डलेकी जेलसे ताज़े ही आये हुए थे। तीसरी तरफ़ गान्धीजी थे जिनके एक-एक शब्दको जन-जीवन सुनता था और मानता था। उन दिनों महात्मा गान्धी 'कर्मवीर' कहलाते थे। उन्हें लोग कर्मवीर मोहनदास करमचन्द गान्धी कहते थे। गान्धीजी कांग्रेस कैम्पमें भी अपने सिद्धान्तके अनुसार चक्की पीस रहे थे। एक बैरिस्टर और इतना बड़ा नेता चक्की पीसे इससे अँगरेज़ोंके ढाँचेमें ढले हुए नेताओंको घृणा-सी होती थी और राष्ट्रीय नेता गान्धीजीकी उपेक्षा करते थे। किन्तु ग्रामीण उन्हें देखना चाहते थे, जानना चाहते थे, उनपर क़ुरबान जाते थे। जब महात्माजीसे स्वर्गीय भाई गणेशशंकरजीने कानपुर आनेको कहा तब निमन्त्रण स्वीकार करते हुए गान्धीजीने कहा, "हाँ कानपुरके और भाई भी मेरे पास आये थे। उनसे मैंने तो कहा है कि 'प्रताप' का सम्पादक गणेशशंकर विद्यार्थी आवे तो बात करके जवाब दूँगा। तो अब मैं कानपुर आऊँगा। पर मैं तुम्हारे ही पास ठहरूँगा।" भाई गणेशशंकरजीने कहा, "मेरे छापेखानेमें तो धूल उड़ती

है। हम कानपुरके लोग आपको बहुत अच्छी जगह ठहरायेंगे।" गान्धीजी खिलखिलाकर बोले, "भाई, मुझे अच्छी जगह नहीं ठहरना है, मुझे तुम्हारे ही पास ठहरना है, अच्छा जाओ देर होती है।" उसी समय गणेशजी तथा हम सब लोग उठकर चले गये। चौथे ही दिन मैंने गान्धीजीको प्रताप प्रेस-में देखा। वे उस समय पत्र लिखनेमें व्यस्त थे। एक साधारण-सी क़लम थी, आलपीनकी जगह बबूलके काँटे रखे हुए थे। और प्रताप प्रेसके नलपर उनके कपड़े धुल रहे थे। लोगोंसे मिलनेका समय होते ही उन्होंने अपना लिखना बन्द कर दिया और चर्चा करने लगे। जो प्रश्नोत्तर हुए उनका कुछ अंश मेरे पास यों सुरक्षित है। प्रश्न कभी गणेशजी करते और कभी कानपुरके थियोसॉफिकल हाई स्कूलके हेड मास्टर श्री परांजपे। मैं केवल गणेशजीके प्रश्नोत्तर ही दे रहा हूँ :

प्रश्न : "मैं और मेरे कितने ही मित्र सशस्त्र क्रान्तिमें विश्वास करते हैं ?" गान्धीजी बीच ही में बोले, "हाँ सो तो ठीक है। मैं भी क्रान्तिमें विश्वास करता हूँ किन्तु मैं उस क्रान्तिको नहीं समझ सकता जो क्रान्ति अपने लिए की जाती है; और औरोंको मारने दौड़ती है। कहावत है कि ईसामसीह तो खुद मरकर ही बना जा सकता है।"

प्रश्न : "तब तो आपके कार्योंसे सशस्त्र क्रान्तिवादियोंकी तथा राष्ट्रीय दलके लोगोंकी सारी मेहनत बरबाद हो जायेगी ?"

उत्तर : "अभीतक जो हुआ है वह यहीं कि एक-दो आदमी मारे गये हैं और विदेशी राज ज्योंका-त्यों बलवान् है। मेरे कामसे आपके प्रयत्न बर-बाद नहीं होंगे। एक तो देशसे हिंसा हटेगी और दूसरे जिस काममें देशको बहुत देर लग रही है मेरा तो विचार है कि वह जल्दी हो जायेगा।" गणेश-जी महात्माजीके इस उत्तरसे बेचैन हो उठे। उन्होंने कहा : "अँगरेज़ इतने सीधे नहीं हैं कि कोई प्रयत्न न करनेपर वे भारतवर्षको स्वराज्य दे दें।"

गान्धीजी : "यह मैं कब कहता हूँ कि बिना प्रयत्नके कुछ मिलेगा। मैं तो कहता हूँ कि इस देशके जन-जीवनको प्रयत्न करना पड़ेगा, तैयारी

करनी पड़ेगी, किन्तु वह दूसरेको मारकर नहीं स्वयं मरकर। मारनेमें क्या लगता है, मैं भी तलवारसे गले काट सकता हूँ, किन्तु औरोंके गले काटनेकी अपेक्षा अपनी निर्बलता, अपनी झिझक, अपनी कायरता और अपने बड़े बननेकी इच्छाको काटना बहुत मुश्किल है।"

मैंने देखा गणेशजी गान्धीजीके कथनसे सन्तुष्ट नहीं हुए। गणेशजीके साथी भी नहीं; किन्तु यह सब सोच गये कि प्रेरणामयी वाणीमें बोलनेवाला कोई नेता हमारे बीचमें है, और इसीलिए हम सबने मिलकर गान्धीजीको प्रणाम किया और विदा ली।

गान्धीजीको एक बार मैंने खेड़ामें देखा। उन दिनों खेड़ाका सत्याग्रह चल रहा था। बहुत सोचता हूँ याद नहीं आता कि वल्लभभाई वहाँ थे? कृपलानीजी थे। गान्धीजी बीमार हो गये। दस्तकी बीमारी थी। तुलसीदासने एक जगहपर भगवान्के पछतानेपर लिखा है,

*"प्रभु सप्रेम पछतानि सुहाई,*
*हरहु भरत मन के कुटिलाई।"*

इस भावनाका प्रत्यक्ष प्रथम दर्शन खेड़ामें हुआ। अपने बीमार हो जानेके कारण गान्धीजी पश्चात्ताप करते हुए कह रहे थे, "मैं तो ऐसा कहूँगा कि मैं भगवान्के सामने गुनहगार हूँ। इतने लोगोंको इकट्ठा कर लिया, सत्याग्रह चला दिया। लोग जेलखाने जा रहे हैं, गवर्नमेण्टका अफ़सर तो खेड़ाके किसानको दुश्मन-जैसा देखता है और किसानोंको ऐसी हालतमें छोड़कर मैं बीमार पड़ गया"। उस समय ऐसा लगा कि जीवनकी प्राकृतिक कठिनाइयोंको भी अपराध कहनेवाले और अपनेको ज़रा भी नहीं क्षमा करनेवाले महान् सन्तके दर्शन हुए। उस समय ऐसा लगा कि भगवान्के किसी सच्चे भक्तके दर्शन हो रहे हैं। गान्धीजीकी बीमारीमें यह तय हुआ कि वे लोगोंसे अधिक मिलें-जुलें नहीं और किसीको उनके पास न आने देनेके लिए कृपलानीजी स्थानके दरवाजेपर जा बैठे। उस समय मैंने कृपलानीजीकी गान्धी-भक्ति और गान्धीजीका कृपलानी-प्रेम अद्भुत रूपमें

देखा। कृपलानीजी बोलते तो जो कुछ भी मुँहमें आ जाये बोलते जाते थे। और गान्धीजीके प्रति कड़ेसे-कड़े शब्दोंका उपयोग करनेके बाद भी गान्धीजी इस प्रकार हँसते थे मानो कोई उनका प्रिय भजन सुना रहा हो, उस समय मनकी स्थिति ऐसी हो गयी थी कि,

*"सिवा को सराहो कि सराहो छत्रसाल को"*

एक बार लोकमान्य तिलकके साथ गान्धीजी बम्बईसे ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटीकी बैठकमें जा रहे थे। यह १४ जनवरी सन् १९२० की घटना है। जबलपुर स्टेशनपर मेल ट्रेन काफ़ी देर तक ठहरती थी इसलिए लोगोंने स्टेशनपर ही एक सभाका आयोजन किया। लोकमान्य तिलक ट्रेनसे उतरकर सभामें आये; भाषण भी किया। गान्धीजीसे आग्रह किया किन्तु वे उतरे नहीं। उन्होंने स्पष्ट कहा, "मैं भीड़का कहना कभी नहीं मानूँगा। आप देशका काम कीजिए किन्तु मैं आपकी सभामें जाकर व्याख्यान देनेको देशका काम नहीं मानता।" परिणाम यह हुआ कि गान्धीजी स्टेशनपर लोगोंसे हरिजन-उद्धारकी चर्चा करते रहे और जबलपुरकी जनता भाषणमें बैठी प्रतीक्षा करती रही।

सन् १९२१ के मार्च महीनेमें बाबू गोविन्ददासजी तथा मित्रोंने कहा कि मैं वर्धा जाकर गान्धीजीको जबलपुर ले आऊँ। गान्धीजी साथ आये। जमनालालजी बजाज भी थे। जब ये तीन मोटरें नागपुर होकर जबलपुर रवाना हुईं तब मैंने सिवनीमें महात्मा गान्धीको भाई दुर्गाशंकरजी मेहताके यहाँ ठहरा दिया। मेहताजीके यहाँ गान्धीजी और समस्त दलके ठहरनेकी बहुत अच्छी व्यवस्था की गयी, किन्तु जब सिवनीसे मोटरें जबलपुरके लिए रवाना हुई तब मार्गमें भाई जमनालालजीने मुझपर इस बातके लिए नाराजी प्रकट की कि जब मेहताजीने वकालत नहीं छोड़ी है, तब गान्धीजीका उनके यहाँ ठहरना उचित नहीं हुआ।

यह खबर किसी तरह भाई दुर्गाशंकरजी मेहताको लग गयी। उन्होंने (चूँकि उसके बाद ही मैं जेल चला गया था) अपने वकालत छोड़नेकी

खबर, मुझे बिलासपुर जेलमें दी और उस दिन राष्ट्रीय क्षेत्रमें आनेके पश्चात् मेहताजी आजतक प्रखर कांग्रेसवादी बने रहे। इस बीच एक विनोदका प्रसंग याद आता है। मैं भूल गया हूँ कि यह घटना कहाँ हुई। महात्मा गान्धी जिस भवनमें ठहरे हुए थे उसके बग़लके कमरेमें स्वर्गीय विट्ठलभाई पटेल ठहरे हुए थे। उस समय 'खेड़ानी लड़त' गुजराती ग्रन्थके लेखक श्री शंकरलालजी पारीख भी वहीं ठहरे हुए थे। विट्ठलभाई उस समय सिगरेट पी रहे थे। महात्माजी हँसते हुए बोले, जो कि उनके सिगरेटपर बहुत आनंददायक व्यंग्य था, "केम विट्ठलभाई शूं करि रह्या छो?*" विट्ठलभाई व्यंग्यको तुरन्त ताड़ गये; बोले, "कांग्रेसके प्रस्तावका पालन कर रहा हूँ। शंकरलालजी डरते-डरते गुजरातीमें बोल उठे जिसका अर्थ था, 'यह कैसे?" विट्ठलभाई खिसियाकर अपना हाथ अपने सिरसे लगाकर बोले, "ज़रा कांग्रेसका प्रस्ताव देखो मेहरबान, तुमने विलायती चीज़ोंका बोन फायर पास किया है और मैं विलायती चीज़ोंका बोन फायर कर रहा हूँ।" ऐसा कहकर उन्होंने एक हाथसे अपनी चितकबरी दाढ़ीपर हाथ फेरते हुए दूसरे हाथकी जलती हुई सिगरेट मुँहमें लेते हुए ज़ोरका कश खींचा और वातावरण हँसीसे भर गया।

भारतवर्षने एक बहुत बड़ा द्रष्टा, एक बहुत बड़ा ऋषि, एक बहुत बड़ा योद्धा, एक बहुत बड़ा कवि खो दिया, जो चिन्तनकी घड़ियोंको जब क्रियामें तोलता था तब वाणीसे बोलता था। लोक-जीवनकी करुणाके कोटि-कोटि स्वर, पुरुषार्थके संकेत बनकर जिसकी वाणीमें फूट पड़ते और जिसकी क्रियामें टूट पड़ते थे; विश्वका ऐसा अनहोना काव्य हमने खो दिया। उसकी क़लम जब उठती, भाषाका सुहाग और देशका भाग्य लिखती थी। देशकी दलित पीढ़ियाँ उसके अन्तःकरणमें पुकार उठती थीं। सेना न होते हुए भी जिसकी बात राजाज्ञाकी तरह पालन की जाती, गद्दी न होते हुए

---

* कहो विट्ठलभाई क्या कर रहे हो?

भी जिसकी बात धर्माज्ञाकी तरह मस्तक झुकाकर स्वीकार की जाती, स्वर भावुक न होते हुए भी, जिसकी बात सुनकर सहस्र-सहस्र प्राणियों और शत-शत संस्थाओंकी रक्षाके लिए धन बरस पड़ता और प्रियतम और प्रियतमाका पागलपन न होते हुए भी जिसका ईमान और बलिदान, जिसकी कीर्ति और मूर्ति पीढ़ियोंमें दुलरायी जाती, उसे हमने खो दिया। जिसके नेत्रोंमें दुखियोंकी चीत्कार भर जाती, जिसकी साँसोंमें ज़रूरतमन्दोंकी झंकार सुनायी पड़ती, जिसकी मुद्रामें विश्वके परिवर्तनकी मनुहार होती और जिसके स्वरमें साम्राज्योंको कम्पित करनेकी हुंकार होती, उसी महान् मानव-काव्य अथवा काव्य-मानवको हमारे देशकी भूमिने जन्म दिया और खो दिया।

# महात्मा गान्धी

## २

सन् १९२०के सितम्बर महीनेमें कलकत्तामें स्पेशल काँग्रेस हुई। लोकमान्यके स्वर्गवासको कुछ ही दिन हो पाये थे और गान्धीजीके कथनके अनुसार तो "यदि कोई व्यक्ति है जो भारतीय स्वतन्त्रताके लिए प्रार्थनामें दिन और रात निरन्तर लीन रहता है और अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ यह सोचता रहता है कि भारतवर्षके लिए मुक्ति प्राप्त की जाये तो वह व्यक्ति है लोकमान्य तिलक।" लोकमान्य तिलककी मृत्युके बहुत दिन पूर्व एक बार महात्मा गान्धीने यह भी कहा था कि "भारतीय स्वतन्त्रताके लिए लोकमान्य तिलककी भक्ति आश्चर्यजनक है; यदि वे इस समय सो न रहे होंगे तो मेरी पूर्ण श्रद्धा है कि इस वक़्त वे भारतीय स्वराज्यके सम्बन्धमें ही कुछ सोच रहे होंगे या किसीके साथ उसी विषयपर बहस कर रहे होंगे।"

लोकमान्यके स्वर्गवासकी खबर पाकर उनके उदास मुँहसे एकदम निकल पड़ा था, "देशके आन्दोलनकी कठिनाइयोंमें अब मैं किसके पास जाकर सलाह करूँगा और सहायता प्राप्त करूँगा। अब मैं किसके पास जाकर कहूँगा कि सम्पूर्ण महाराष्ट्र इस कार्यमें लग जाये। अभीतक मैं, स्वराज्यके लिए काम करते हुए भी, स्वराज्य शब्द मुँहसे नहीं निकालता था, परन्तु अब मेरे लिए आवश्यक हो गया है कि मैं लोकमान्यकी आवाज़-को समयमें न डूब जाने दूँ। मैं उनकी आवाज़को जीवित और प्रभाव-शील रखूँ। हमारे इस महान् योद्धाने भारतीय स्वतन्त्रताकी जिस पताका-को ऊँचा रखा उसे एक क्षणके लिए भी झुकने नहीं देना है।" गान्धीजी अहमदाबादसे एकदम बम्बई पहुँचकर लोकमान्य तिलककी स्वर्गारोहण-यात्रामें शामिल ही नहीं हुए थे प्रत्युत उस समयकी अपार भीड़के बीचमें

लोकमान्यको कांधा भी दिया था।

कलकत्ता काँग्रेसके बाद महात्मा गान्धीके कार्योंकी विशेषताको जाननेके लिए समयकी पुस्तकके थोड़ेसे पन्ने पोछेको पलटने पड़ेंगे। जब सन् १९०६ में कलकत्तामें काँग्रेस हुई थी तब उसके अध्यक्षके नाते गुजराती मातृभाषा-वाले किन्तु देशकी स्वतन्त्रताके परम नायक भारतीय राष्ट्रके प्रपितामह श्री दादाभाई नौरोजीने सबसे प्रथम अपने अध्यक्षीय भाषणमें स्वराज्य शब्दका उच्चारण किया था और उस शब्दके साथ तीन बातोंको और मिलाया था। इस तरह वे कुल मिलाकर चार बातें थीं, स्वदेशी आन्दो-लन, विदेशी वॉयकॉट, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य। लोकमान्य तिलकने अपने भाषण-द्वारा, वक्तव्य-द्वारा और मराठी 'केसरी'में लिखे अपने लेखों-द्वारा इन चारों बातोंपर बहुत ज़ोर दिया था।

भारतीय स्वतन्त्रताके आन्दोलनका इतिहास जाननेवालोंसे यह बात छिपी नहीं है कि लोकमान्य इन्हीं चार बातोंके लिए जीवन-भर झगड़ते रहे। उन दिनों एक होम-रूल लीग, श्रीमती स्वर्गीया एनीबेसेण्टके द्वारा चलायी जा रही थी और दूसरी होम-रूल लीगका संचालन स्वयं लोकमान्य तिलक कर रहे थे। लोकमान्यका स्वर्गवास होते ही गान्धीजीने स्वराज्यके आन्दोलनका वह भार अपने सिरपर उठा लिया। वे होम-रूल लीगके अध्यक्ष चुन लिये गये। उस समय कलकत्ता विशेष काँग्रेसके अध्यक्ष पंजाब-केसरी स्वर्गीय लाला लाजपतरायने कहा था, "मेरा हृदय गान्धीजीके साथ जाता है और मेरा मस्तिष्क दूसरी ओर जा रहा है।" गान्धीजीने अपनी नवीन अहिंसक योजना पूर्णतः देशके सामने रख दी थी। उस समय कलकत्ता स्पेशल काँग्रेस-में गान्धीजीको अहिंसापर प्रेमका व्यंग्य करते हुए बम्बईके देशभक्त बैरिस्टर बेप्टिस्टाने अखिल भारतीय काँग्रेसकी सब्जेक्ट कमेटीकी* बैठकमें कहा था, "आपके अहिंसाके आन्दोलनसे देशका स्वराज्य मिलना तो दूर, अंगरेज़ोंका

---

* विषय-निर्वाचनसमिति।

कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। आप स्वयं ही अव्यवस्था बढ़ने देनेके बजाय अहिंसाके नामपर एक लाख 'पुलिस मैन'का काम खुद किया करते हैं, और प्रकारान्तरसे देशकी व्यवस्था रखनेमें अँगरेज़ी शासनको बल पहुँचाते हैं।

हम लोग सब उन दिनों लोकमान्य तिलकके झण्डेके नीचे स्वराज्यका आन्दोलन करनेका काम करते थे अतः गान्धीजीकी बात उनकी अहिंसाकी चर्चाके कारण लोगोंकी समझमें बिलकुल नहीं आती थी। मैं यों कलकत्ता काँग्रेसमें ठहरा तो खंडवा-निवासी (अब स्वर्गीय) हरिदास चटर्जीके लैन्सडाउनस्ट्रीटवाले मकानमें था। मेरे साथ ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान थे और आजके मध्यप्रान्तीय मन्त्रिमण्डलके मन्त्री श्री अब्दुलक़ादिर सिद्दीक़ी, मुझे खूब याद है मेरे साथ ही कलकत्ता गये थे और कलकत्तासे लौटे थे। उन दिनों वे खंडवाकी शासकीय माध्यमिकशालाकी अध्यापकी छोड़कर बुरहानपुर चले गये थे और वकालत करने लगे थे। योग ऐसा आया कि वकालत करते ही उन्हें महात्मा गान्धीके आन्दोलनके अनुसार वकालत छोड़नी पड़ी। उस समय कलकत्तामें महात्माजी जहाँ ठहरे हुए थे वहाँकी व्यवस्था स्वर्गीय भाई जमनालालजी बजाजके हाथमें थी। मैं जब अपने मित्रोंके साथ कलकत्तेमें महात्माजीके क़मरेमें गया तब वे कुछ मित्रोंसे बातचीत कर रहे थे। काँग्रेसके महामन्त्री लखनऊके एडवोकेट पण्डित गोकर्णनाथ मिश्र उनकी बाजूमें बैठे हुए थे। और वातावरणमें उल्लासकी अपेक्षा उदासीनता छायी हुई थी।

लोग स्वराज्यके आन्दोलनको खूब समझते थे। किन्तु अहिंसासे बहुत घबराये हुए थे। गान्धीजीने अपना दृष्टिकोण समझाते हुए यह बताया कि एक बार अमलमें लाकर देखिए तो आपको पता चल जायेगा कि अहिंसाकी शक्ति ऐसी है जिसका सामना हिंसाकी शक्ति कर ही नहीं सकती। हाँ होनी चाहिए वह सच्ची अहिंसा। नक़ली अहिंसा तो हिंसासे भी अधिक हानिकारक है। मुझे लगा कि यह अहिंसा तो अपने बूतेका रोग नहीं है। किन्तु जब काँग्रेसके मंचपर चढ़कर महात्मा गान्धीने अपनी

अहिंसावाली वात कही और योजना समझायी तब मानो प्रचण्ड करतल-ध्वनिने पण्डाल गुँजा दिया और महात्मा गान्धीकी बातका समर्थन किया। उस समय कितने ही लोग तीन बातें सोचते थे। एक दल वह था, जो सोचता था कि अहिंसा गान्धीजीकी सनक मात्र है, वह बिलकुल नहीं चल सकती। कुछ लोग यह सोचते थे कि अहिंसापर ज़ोर देनेसे कांग्रेस बिखर जायेगी और उसकी प्रलयंकारी शक्तियाँ काँग्रेस छोड़कर चली जायँगी। तीसरा एक दल ऐसा भी था जो सोचता था कि कदाचित् महात्माजी स्वयं अहिंसापर विश्वास नहीं करते; वे केवल राजनीतिक चतुराईके कारण अहिंसापर ज़ोर दे रहे हैं। इस तरह सोचनेवालोंमें भारतवर्षके शिक्षित लोग ही अधिक थे। हम लोग जब कलकत्तासे लौटे तब यह प्रभाव लेकर चले कि जनता महात्माजीका साथ देनेके लिए तैयार है और बूढ़े नेता नहीं मानते कि अहिंसासे काम चल सकेगा। उसी वर्ष काँग्रेसका अधिवेशन जो प्रतिवर्ष दिसम्बरकी छुट्टियोंमें हुआ करता था हमारे प्रान्तमें नागपुर हीमें होनेवाला था और उत्तर और दक्षिणके दिग्गज नेता अहिंसाको हरानेकी प्रतिज्ञा-सी लेकर कलकत्तासे चले थे। किन्तु देशके जो नये नेता थे, वे स्पष्ट गान्धीजीके साथ दिखायी देते थे। उस समयकी तीन महान् समस्याएँ थीं, खिलाफ़तका झगड़ा मुसलमानोंके पूर्ण सन्तोषके साथ निपटे, भारतवर्षको स्वराज्य मिले तथा भारतरक्षा क़ानून रद्द किया जाये। उन दिनों महात्मा गान्धीके कार्य-क्रममें कौन्सिलका बहिष्कार, स्कूलका त्याग, वकालत बन्द आदिका आन्दोलन शामिल था। किन्तु गान्धीजीको विरोध तो दूर, कलकत्तेसे लौटते न लौटते लोगोंने अपनी कौन्सिलके बहिष्कारकी घोषणाओंकी धूम मचा दी और बम्बई प्रान्तमें सबसे पहले कौन्सिल छोड़नेवालोंमें स्वर्गीय बैरिस्टर बेप्टिस्टा और लोकमान्यके परम शिष्य स्वर्गीय नरसिंह चिन्तामणि केलकरजी थे। उस समय यद्यपि जिनके हाथमें काँग्रेस थी उन पदाधिकारियोंकी नीयत तो यह थी कि काँग्रेस महात्मा गान्धीके असहकारिता आन्दोलनके खिलाफ़ मत दे, किन्तु सदस्य पदा-

धिकारियोंके क़ाबूके बाहर थे और जनता खुले आम असहयोग आन्दोलनसे हर्षित हो रही थी।

नागपुर कांग्रेसमें मैं उसी मकानमें ठहरा हुआ था जिसमें ऊपरके हिस्सेमें बापूजी ठहरे हुए थे। उस समय सम्पूर्ण भारतीय जीवनमें एक हलचल प्रारम्भ हो गयी थी। १९०८ में जब नागपुरमें लोग किसी राजनीतिक परिषद्में एकत्र हुए थे तब भोजनालयकी तरफ़ ध्यान देनेसे मालूम होता था कि ब्राह्मण-अब्राह्मणवादका कितना बड़ा ज़ोर है। जब भोजन तैयार हुआ तो जो लोग सोला नहीं पहने हुए थे उन्हें अपवित्रोंकी तरह दूर बैठाकर भोजन परोसा जा रहा था। जब १९१५ में लोकमान्य छूटकर आये उसके पूर्व स्वर्गीय विष्णुदत्त शुक्लके सभापतित्वमें जो अखिल भारतीय राजनीतिक परिषद् नागपुरमें हुई उसमें सोला पहनने और बिना सोला पहननेवालोंकी पंक्तियाँ आमने-सामने बैठीं, किन्तु जब नागपुरकी कांग्रेस हुई तब गान्धीजीके युगका यह प्रभाव था कि भोजनकी वस्तुओंमें श्रेष्ठता आ गयी थी और मनुष्य मात्र भोजमें सम्मिलित था। गान्धीजीके युगकी अहिंसक असहकारिताके ज़मानेकी वह पहली काँग्रेस थी, जिसमें कर्नल वैंजउड और मेजर ऐटली (जो आगे जाकर इंग्लैण्डके मज़दूर प्रधान मन्त्री हुए तथा जिनके ज़मानेमें भारतवर्षको स्वराज्य प्राप्त हुआ) भी कांग्रेस देखनेके लिए प्रथम बार काँग्रेसमें सम्मिलित हुए थे। मैंने देखा स्वर्गीय भाई जमनालालजी बजाज, जो नागपुर काँग्रेसको स्वागत-समितिके अध्यक्ष भी थे, काँग्रेसको सफल बनानेके लिए बहुत चिन्तित थे और महात्मा गान्धी मानो देशकी परम शक्तिपर विश्वास करके अत्यन्त निश्चिन्त थे। हाँ, उस ज़मानेमें मध्यप्रदेशकी प्रान्तीय काँग्रेस कमेटीकी सम्पूर्ण शक्ति इस बातमें लगी हुई थी कि असहयोगका प्रस्ताव कांग्रेसमें हार जाये, किन्तु असहयोगके पक्षमें देश-भरमें हल्ला मचा हुआ था और लोक-जीवनमें ऐसा प्रतीत होता था, मानो स्वराज्य नज़दीक दौड़ता चला आ रहा है। यद्यपि महात्मा गान्धी बार-बार उपदेश कर रहे थे कि बिना सोचे-विचारे

असहयोगके प्रस्तावका साथ न दो, किन्तु लोग तो गान्धीजीके प्रस्तावपर मत देनेके लिए उतावले हो रहे थे।

एक दिन सन्ध्याके समय अपने नागपुरके निवास-भवनमें गान्धीजीने सब कांग्रेस कार्यकर्ताओंको बुलाया और कहा कि मेरे कानोंपर खबर आयी है कि आप लोकों ( गान्धीजी उस समय लोगको 'लोक' ही उच्चारण करते थे ) कूं जो अहिंसाका मतलब समझाते हैं, उसमें लोक तालियाँ खूब बजाते हैं, मगर उसमें ज़हर तो होता है। मुझे हिंसाका स्वराज्य तो नहीं चाहिए और अगर हिन्दुस्तानके लोक हिंसाके बिना स्वराज्य नहीं चाहते तो मैं तो लोकों कूं छोड़कर बाहर निकल जाऊंगा। इसलिए अब आप लोक अपने भाषणोंमें-से ज़हर निकाल डालिए। गान्धीजीके इतना कहते ही 'हम कांग्रेसके महान् वक्ता गण' एक-दूसरेकी सूरतें देखने लगे। उस समय स्वर्गीय विजयसिंहजी पथिकने स्पष्ट शब्दोंमें कहा, "यदि हम गान्धीजीको ग्रहण करना चाहते हैं तो समूचा ही ग्रहण करें—ईमान पुराना और योजना नयी, उस जोड़से तो काम नहीं चलेगा।" इसके पश्चात् थोड़ा-सा परिवर्तन तो वक्ताओंने अपने भाषणोंमें किया, किन्तु उनके मनसे यह भय नहीं निकला कि युद्धकी भाषाको अहिंसक रूप देनेसे कहीं पूरा आन्दोलन न बैठ जाये। किन्तु नागपुर कांग्रेसके थोड़े ही दिनों बाद बालाघाट ज़िलेमें काम करनेवाले एक बाहरी प्रान्तके सज्जनने जब अपने कामोंके लिए वहाँके ज़िला मजिस्ट्रेटके सामने क्षमा मांग ली तब गान्धीजीने कार्यकर्ताओंसे वर्धामें स्पष्ट कहा, "वह आदमी हमारे कामसे तो गया। अब हमारे कूं उसकी तरफ़ नहीं देखना चाहिए और इस बातका खयाल रहना चाहिए कि स्वराज्यके काममें संकट तो आवेंगे। इसमें तो वो ही लोग पड़ें जो संकट सह सकते हैं, जो नहीं सह सकते उनका इस आन्दोलनमें कुछ काम नहीं।"

# महात्मा गान्धी

## ३

१९२० में अजमेरके देशभक्त श्री अर्जुनलाल सेठी बालाघाट जेलसे छूटे। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो इन्दौरके कल्याणमल हाई स्कूलके, जन्मसे लेकर १९१३ तक वे उसके प्रधानाध्यापक थे। इस तरह कल्याणमल हाई स्कूलको यह गौरव प्राप्त है कि कठिनाईके उन दिनों, जब देशभक्त सेठीजी जैसे व्यक्तिका ब्रिटिश भारतमें भी स्वतन्त्र रहना कठिन था वे एकदेशीय रियासतमें नये हाई स्कूलके हेडमास्टर होकर आये। फिर उनके क्रान्तिवादी होनेके सन्देहपर उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया और लगभग सात वर्ष, बिना मुक़दमा चलाये जयपुर और बेलोर ( मद्रास प्रान्त ) की जेलोंमें रखा गया। सेठीजी गीताके परम उपासक तथा जैन-धर्मके श्रेष्ठ उदाहरण थे।

एक बार उन्हें जेलमें ५२ दिनका उपवास करना पड़ा; वे भोजन तभी करते थे जब अपने इष्ट देवकी मूर्तिके दर्शन कर लेते। ५२ दिन बाद जब प्रभु-प्रतिमा उनके सामने लायी गयी और उन्होंने दर्शन कर लिये तब जाकर भोजन किया। जब सेठीजी बालाघाट जेलसे छूटे तो उनके जेल-जीवनकी एक प्रश्नोत्तरी २८ फ़रवरी १९२० के 'कर्मवीर'में छपी। उस समय महात्माजी-द्वारा सम्पादित गुजराती 'नवजीवन' तथा अँगरेज़ी 'यंग इण्डिया' नये-नये ही प्रकाशित हुए थे और सेठीजीकी इस मुलाक़ातका अनुवाद गुजराती 'नवजीवन'में प्रकाशित हुआ था।

एक बार मैं बापूके साथ वर्धासे बम्बईकी यात्रा कर रहा था। तीसरे दरजेमें यात्रा हो रही थी। हम लोगोंकी कोशिश यह रहती कि रेलका डिब्बा बापूको खाली मिले, अतः समयसे बहुत पहले स्टेशनपर पहुँचकर विभिन्न प्रकारसे उसे खाली करनेका प्रयत्न करते और महात्माजीका नाम

सुनकर उस डिब्बेके मुसाफ़िर दूसरे डिब्बेमें बैठनेको चले जाते। मुझे याद आता है कि उस समय मणिलाल भाई (गान्धीजीके पुत्र नहीं) हम लोगोंके साथ थे, किन्तु ज्यों ही बापू रेलके डिब्बेमें आये, डिब्बेमें मुसाफ़िरों-को न देखकर वे एक दम उदास हो गये और बोले, यहाँके मुसाफ़िर क्या हुए? अब मैं मणिलाल भाईकी तरफ़ देखूँ और मणिलाल भाई मेरी तरफ़। अन्तमें बहुत डरते-डरते हम लोगोंने स्वीकार किया कि मुसाफ़िर हमारी प्रार्थनापर दूसरे डिब्बेमें बैठने चले गये। बापू बोले, "क्यों नहीं चले जायेंगे! पुलिस डराती है, फ़ौज डराती है, सरकारी अधिकारी डराता है, अँगरेज़ डराता है, अब क्या गान्धीजीके डरसे रेलके मुसाफ़िर दूर भगाये जायेंगे? और मणिलाल भाईकी ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा, "तमे तो हजु आपणा कार्य्यनो आधार च बगाड़वा माँगो छो" बापूने गुजरातीमें बहुत लम्बा कहा था किन्तु मेरी डायरीमें मैंने पूरे शब्दोंको उस समय नहीं लिखा था। अन्तमें बापू धीरेसे उठकर रेलके दूसरे मुसाफ़िरोंसे भरे थर्ड क्लासके डिब्बेमें बैठ गये और अपने कार्य-क्रमकी बात करने लगे। वहाँ हम लोगोंने देखा कि बापू अपनी बात रेलके मुसाफ़िरोंसे इतनी तल्लीनतासे कर रहे हैं, मानो रेलके डिब्बेमें कई दिनों पहले आकर बैठे हों। मणिलाल भाईने मुझसे कहा, "हमें तो केवल बापूके स्वास्थ्यकी चिन्ता है, किन्तु बापू भारतवर्षके जीवनसे घुल-मिल जाना चाहते हैं।"

एक बारकी बात है कि बापू भोपाल गये। वे वर्धासे भोपाल जा रहे थे। भोपालमें 'कर्मवीर' बन्द था और मेरा प्रवेश-निषेध था। इस बार भाई जमनालालजी बजाज़ने मुझे सूचना दी थी और मैं खंडवासे उनके साथ हो गया। बापूकी इस भोपाल-यात्राकी व्यवस्था प्रसिद्ध देशभक्त स्वर्गीय डॉक्टर अन्सारी साहबने की थी। डॉक्टर अन्सारी साहब भोपालमें उस समय हाज़िर भी थे। बापू भोपालके नवाब साहबके 'राहत-मंज़िल' नामक भवनमें ठहराये गये थे। ज्यों ही सन्ध्याका समय हुआ, बापू प्रार्थना करने बैठ गये; उसमें भोपालके नवाब साहब, डॉक्टर अन्सारी

महोदय, और भोपालके रियासतके बड़े-बड़े अमीर-उमराव घुटने टेके वहाँकी प्रार्थना सुन रहे थे। बापू ध्यानस्थ प्रार्थनामें लीन थे। गीतासे, क़ुरान शरीफ़से, बाइबिलसे और सन्तोंकी वाणियोंसे प्रार्थनाके शब्द गूँज रहे थे। उस दिन उस प्रार्थना-सभामें मालिक या नोकर, राजा या प्रजा, ग़रीब या अमीर, छोटा या बड़ा सब भेद जाने कहाँ विलीन हो गये थे। उस समय साम्प्रदायिक भेद मानो कोई चीज़ ही नहीं दीख पड़ता था।

जिन दिनों बापू १९३३ में हरिजन दौरेपर निकले तब, स्वर्गीय पण्डित रविशंकरजी शुक्ल उनके दौरेमें उनके साथ हो गये। क्योंकि दौरा महाकौशलसे शुरू ही हुआ था, मैं बैतूलके मित्रोंको लेकर छिन्दवाड़ा पहुँच गया। उसी दिन बापू सिवनी आ चुके थे और छिन्दवाड़ा आनेवाले थे। बैतूलके श्री भाई दीपचन्दजी गोठीकी सूचनाके अनुसार मुझे लगा कि बापूको छिन्दवाड़ा शीघ्र आना चाहिए और दिन-ही-दिनमें, अर्थात् दिन रहते ही, सतपुड़ाके सर्पाकार मोड़ों और घाटियोंसे कमसे-कम मुल्ताई तक निकल जाना चाहिए। उस समय मैं छिन्दवाड़ामें देशभक्त श्री सालपेकरजीके घर ठहरा हुआ था। मैंने तुरन्त एक तार सिवनी दिया, "काइण्डली क्रॉस सतपुडॉज़ टर्निङ्ज़ एण्ड घाट्स् बिफ़ोर सन् सेट", और दो घण्टे बाद हम लोगोंने देखा कि पूज्य बापूजी और उनके साथकी मोटरें छिन्दवाड़ामें थीं। छिन्दवाड़ाका काम शीघ्रतासे निपटाया गया और बापूकी मोटर आगे मुल्ताईकी ओर चल पड़ी। कभी-कभी तो उनकी मोटरकी रफ़्तार अस्सी मील फ़ी घण्टा भी हो जाती थी कि जिससे न हम उनकी मोटरके आगे उचित ढंगसे रह सकते थे और न उस मोटरका पीछा ही उचित ढंगसे कर सकते थे। मुझे 'पल्पीटेशन' है अतः मैं भयभीत होकर जाने कैसे यात्रा कर रहा था और पूज्य बापूकी मोटरमें नहीं बैठा था। बापूकी मोटरमें श्री दीपचन्दजी गोठी बैठा दिये गये थे कि वे रास्ता बताते चलें। किन्तु मोटरकी दौड़ तुच्छ हो जाती थी जब मैं देखता था कि उन शैल-ग्रामोंके निवासियोंके झुण्डके-झुण्ड गीत गाते हुए बापूको रोक लेते थे।

और 'समयका कठोरतासे पालन' करते हुए भी थके हुए बापू उत्साह-पूर्वक ग्रामीणोंको हरिजनोंके उद्धारका सन्देश सुनाते जाते थे। छिन्दवाड़ासे मुल्ताई आते हुए नौ जगह ग्रामीणोंने बापूकी मोटर रोकी थी। ग्रामीण लोग प्रायः उन्हीं गीतोंको गाते थे जिन गीतोंको वे उस समय गाया करते थे, जब उनका कोई पारिवारिक तीर्थ-यात्रासे लौटता था। किन्तु एक ग्रामके ग्रामीणोंको मैंने वह गीत गाते सुना जब भगवान् रामचन्द्रजी चौदह वर्षका वनवास काटकर अयोध्यामें लौटे थे।

बापू जब मुल्ताई पहुँचे तब सन्ध्या हो चुकी थी। वहाँ जो हरिजन-प्रेमी सभा हो रही थी, उसका नियन्त्रण देशभक्त श्रीयुत बिहारीलालजी पटेलकी धर्मपत्नी अर्थात् मेरे मित्र गुरुदयाल बाबूकी पुत्री कर रही थी। बापू उनकी व्यवस्था-चतुराईसे बहुत प्रसन्न हुए थे।

बैतूलमें रात बितानेके पश्चात् बापूकी यह इच्छा हुई, कि वे मद्रासके थियोसॉफिकल कॉलेजके प्रिन्सिपल और बापूके परम प्रिय मिस्टर डंकन, जो उन दिनों एक वर्षके लिए सतपुड़ाके जंगलोंमें आकर रहे थे, को देखें। बापू पहले सूबेदार साहबके गाँव खेड़ीमें अपनी प्रसिद्ध अँगरेज़ शिष्या मिस मेरी बारसे मिले जिन्होंने भारतीय ग्रामोंकी सेवाके लिए बापूकी आज्ञाके अनुसार अपना जीवन लगा दिया और तब वहाँसे हम लोग गान्धीजीके साथ उस स्थानपर गये जहाँ 'डंकन' महाशय रहते थे।

हम लोग एक लम्बा-सा घुमाव लेकर ताप्ती नदीके उस भयंकर मोड़-पर पहुँचे जहाँ भयकी गोदमें सौन्दर्य बहुत निश्चिन्त भावसे लेटा हुआ था। बापूने जब वह स्थान देखा तो उनके मुँहसे निकल पड़ा, 'स्विट्ज़रलैण्ड' में इससे सुन्दर क्या हो सकता है; और पत्रोंके संवाददाताओंकी क़लमें दौड़ गयीं। उस गाँवका नाम 'बारहलिंग' था जहाँ श्री डंकन रहते थे। नीचे ताप्ती नदीके धरातलमें बारह शिवमन्दिर थे, जिनके कारण उस गाँवका नाम बारहलिंग पड़ा था। बापूको कुरसीपर बैठाकर ऊपर चढ़ाया गया, तब एक लम्बी घाटी चढ़नेके बाद पर्वतके शिखरपर बारहलिंगमें पहुँचे। पीछे

घूमकर देखनेसे बारहलिंगके मन्दिर और ताप्तीका जल-धरातल दोनों स्पष्ट दिखायी दे रहे थे और सौन्दर्य तो मानो सन् १९३३ के नवम्बरके उस सप्ताहमें सतपुड़ाकी घाटियों और झाड़ियोंपर टूटकर बिखर रहा था। वायुका जो भी झोंका आता काफ़ी ठण्डा होता किन्तु सौन्दर्यमय वृक्षराजिके पत्र हिल-हिलकर मानो बन्दनवार बना उठते थे। पहाड़के शिखरपर चढ़नेके बाद हम चिन्तामें पड़े कि यहाँ पानी कहाँसे आता होगा ? किन्तु उस पर्वत शिखरपर तो एक कुँआ, और उसमें काफ़ी पानी, और मालगुज़ार साहबका एक बग़ीचा, जिसमें केले तथा कई प्रकारके वृक्ष लगे हुए थे। बापूने पूछा, 'डंकन' कहाँ है ? तब उन्हें बताया गया कि इस सतपुड़ा शिखरके पश्चात् यह जो दूसरा ऊँचा शिखर दिखायी देता है, जहाँ इतनी ही और इससे भी कठिन चढ़ाई है, उस शिखरके ऊपर अत्यन्त अकेलेमें डंकन महाशय रहते हैं। बापू खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले, 'क्या वहाँ जंगली जानवर नहीं आते ?" उस समय यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो श्री बिहारीलालजी पटेलने कहा था, "कभी-कभी आते हैं, गाँववालोंका और जंगली जानवरोंका तो नित्यका परिचय है, किन्तु वे छेड़ते नहीं हैं।" इस तरहकी भिन्न-भिन्न चर्चा होते हुए, हम लोग बापूके साथ सतपुड़ाके शिखरपर चढ़े जा रहे थे। और ताप्ती नदीकी छोटी-छोटी लहरें मानो नीचेसे बहुत गर्वित देख रही थीं। हम लोग मिस्टर डंकनके यहाँ पहुँचे, उसके पहले महात्माजी पहुँच गये थे। हम लोगोंको ऊपर चढ़नेमें ज़रा देर हो गयी थी। महात्माजी मिस्टर डंकनसे बात करनेमें इतने तल्लीन थे कि किसीका उस समय बातचीतमें हिस्सा लेना बहुत कठिन था। लौटते समय जब ताप्तीसे हम लोगोंने बिदा ली, लगा कि ऐसा सुन्दर स्थान जीवनमें फिर देखनेको शायद नहीं मिलेगा और यह नज़्ज़ारा तो अभूतपूर्व होगा कि भारतवर्षकी इच्छाकी बलवान् बेल ताप्तीके किनारे बारहलिंगमें लहलहाये और उसमें महात्मा गान्धीके आगमनका पुण्य फल उठे।

बैतूलसे बापू इटारसी आये। बैतूलसे लौटनेपर होशंगाबाद ज़िलेके बाबई

नामक स्थानके मित्रोंने बापूसे आग्रह किया कि वे अपने हरिजन दौरेमें बाबईको भी रखें। किन्तु पूज्य ठक्कर बाबाने, मैंने, डॉक्टर चन्द्रशेखरने और स्वर्गीय पण्डित रविशंकरजी शुक्लने बाबईवालोंको सर्वथा निराश कर दिया और कह दिया कि बापू बाबई नहीं जायेंगे। इटारसी पहुँचकर बापू, मिश्रीलालजी दीपचन्दजी गोठीकी धर्मशालामें ठहरे। वहाँ प्रातः उठकर बापूने मुझसे पूछा, "माखनलालजी, बाबई यहाँसे कितनी दूर है ?"

मैं : "चौदह और दस चौबीस मील।"

प्रश्न : "वहाँकी आबादी कित्ती बड़ी है ?"

उत्तर : "वहाँकी आबादी लगभग तीन हज़ारसे कम ही होगी। शनिवार और मंगलवारको वहाँ बाज़ार लगते हैं।"

प्रश्न : "तुम मेरे बाबई जानेका विरोध क्यों करते हो ?"

उत्तर : "यहाँसे होशंगाबाद पहुँचनेके पश्चात् वहाँसे कुछ मील जाकर तवा नदी पड़ती है। उसका पुल नहीं बना है। नदीको पैदल ही पार करना होता है। कभी घुटने-भर, और कभी कमर-भर पानी वहाँ रहता है। वहाँ पुल हर साल बनता है किन्तु अभी बनकर तैयार नहीं हुआ होगा।" बापूने आज्ञा दी कि आप जाइए और देखकर आइए कि पुल बना या नहीं। मैं एक मोटर लेकर तवा नदी गया। पुल बन रहा था। उसपर चलकर देखा वह बना नहीं था। मैं लौट आया और बापूसे कह दिया कि तवाका पुल अभी बना नहीं है, आप बाबई नहीं जा सकते। होशंगाबाद ज़िलेका वह बाबई गाँव मेरी जन्मभूमि है, इसीलिए वहाँसे आये हुए मित्रोंको इस बातका दुःख हुआ कि बापूको बाबई ले जानेके बजाय मैंने तवाका पुल न बननेकी रिपोर्ट दी। बापू इटारसीसे बीना होते हुए सागर चले गये, वहाँसे जबलपुर। मैं खण्डवा लौट आया। तीन-चार दिन बाद मुझे तार मिला कि बापू सुहागपुर होकर बाबई जा रहे हैं और मैं तुरन्त उन्हें सुहागपुरमें मिलूँ। मैंने तुरन्त रेल पकड़ी और गाड़रवाड़ा पहुँच गया। गाड़रवाड़ामें मेल ट्रेनसे मैं बापूके साथ लौटकर सुहागपुर

आ गया। मैं इस बातसे अत्यन्त दुखी था कि बावई ले जाकर बापूके साथ अन्याय किया जा रहा है। उसके तीन कारण थे :

१. बाबईसे हरिजन-कार्यमें कोई बड़ी सहायताकी आशा नहीं थी।

२. बाबई-जैसे सब स्थानोंमें बापूको देश-भरमें नहीं ले जाया जा सकता था। बाबई-जैसे छोटे स्थानोंको छोड़कर ही बापूका दौरा साधा जा सकता था।

३. बाबईमें हरिजनोंकी ऐसी कोई सम्पूर्ण देशका ध्यान खींचनेवाली उलझी हुई समस्या नहीं थी कि वहाँ बापूका जाना अनिवार्य हो।

साथ ही बापू नियमसे नौ-दस बजेके लगभग सो जाते थे। वह क्रम इस यात्रामें बिलकुल नहीं सध सकता था। सुहागपुरपर उतरकर ठहरनेके स्थानपर थोड़ा रुकनेके बाद बापूने सुहागपुरकी सार्वजनिक सभामें भाषण दिया और रातको बाबईके लिए रवाना हुए। उस समय मोटरमें मैं बापूके पास ही बैठा था। मैंने अचम्भेसे देखा कि महात्मा गान्धी मोटर रवाना होते ही हाथ-पैर सिकोड़कर मोटरमें सो गये और गाढ़ निद्राका स्वर भी सुनायी पड़ने लगा। मैं मन-ही-मन सोचता जाता था कि बाबई ले जाकर लोग बापूको निरर्थक कष्ट दे रहे हैं। जब बाबईके स्कूलके पास मोटर बस्तीमें प्रवेश करनेके लिए लौटी तब उन छब्बीस मिनिटोंमें ही बापू ऐसे जाग गये मानो वे सोये ही नहीं और जब वहाँकी सभामें बापूजीने भाषण दिया तब तो मैं मानो गड़-सा गया। वह भाषण समाचारपत्रोंमें इस तरह आया था,

"भाइयो और बहनो,

मैं तारीख ३० को जब इटारसी आया तब लोगोंने मुझसे नदीके बारेमें कहा कि रास्ता खराब है। खराब रास्ता सुनकर मेरा शरीर कमज़ोर होनेसे बाबई आनेका प्रोग्राम बदल दिया। बदल तो दिया मगर मेरा मन यहीं लगा हुआ था। मुझे इरादा बदलनेकी दिलगीरी थी। भाई माखनलालकी जन्मभूमि होते हुए भी उन्होंने मेरे शरीरकी हालत जानकर ही मुझे रोका, किन्तु उनकी जन्मभूमि और आप लोगोंके स्थानको देखनेको

मेरा मन तो बाबईमें लगा था। मुझे डॉक्टरोंने मना किया, दोस्तोंने भी समझाया, परन्तु उनका कहना न मानते हुए मैं यहाँ आया। यह बात तो आप जान लें कि मैं यहाँ पैसा लेने नहीं आया। मैं तो आप भाइयोंके प्रेम-के कारण आया हूँ। पैसा तो मैं देश-भरमें-से थोड़ा-थोड़ा इकट्ठा कर लूँगा। भाई प्यारेलाल गुरुने आग्रह किया कि मुझे बाबई आना चाहिए। हरिजनोंका काम करनेवाले भाई जान लें कि कष्टोंमें भी हमें तो शान्ति, अहिंसा और नम्रताका ही पालन करना है। आपने अपने मानपत्रमें मन्दिर न खुलनेपर दुःख प्रकट किया है, परन्तु मुझे खेद नहीं है। मन्दिर तो समय आनेपर खुल जायेंगे, किन्तु अभी तो हमें लोगोंमें-से छुआछूतको मिटाना है। मैं तो मानता हूँ कि यदि हिन्दुओंमें-से छुआछूतका कलंक दूर न होगा तो हमारा नाश हो जायेगा। अगर हरिजन मन्दिरमें नहीं आते तो याद रखो कि उस मन्दिरमें भगवान्‌का वास नहीं है.....।"

रातमें साढ़े नौ बजे सरदार बुधसिंहकी मोटरमें महात्माजी सुहागपुर लौट आये। जब दस बजे वहाँ पहुँचे तो उन्होंने सरदार बुधसिंहको धन्यवाद देते हुए कहा कि मुझे बारह बजे रातको लौटनेका अन्देशा बताया गया था। किन्तु आपने तो मुझे दस बजे रातको ही लौटा दिया।

जिन दिनों महात्मा गान्धीने नमक सत्याग्रह छेड़ा था उस समय मैं तारीख २२ मार्च सन् १९३० को भड़ौंच पहुँच गया और डॉक्टर चन्दूलालके साथ वहाँका गान्धी सेवाश्रम देखा। महात्माजीकी डाँडी-यात्राके बारह सिपाही वहाँ शुश्रूषा ले रहे थे। मेरे साथ उस समय वर्धाके स्वर्गीय बाबा साहब नीलकण्ठराव देशमुख और जबलपुरके श्री बद्रीनाथजी थे। बाबा साहब जम्बूसर गाँवमें महात्माजीसे मिलकर लौट आये थे। मैं भड़ौंचसे समनी गाँव चला गया; 'बुआ' नामक ग्रामसे महात्माजी और नमक सत्याग्रहियोंकी टोली साथ आ रही थी। समनी आकर मैंने देखा कि गुजरातके गाँवोंमें नमक सत्याग्रही बापूके स्वागतके लिए समनी गाँवको आ रहे हैं। समनी गाँवकी आबादी उस समय नौ-सौ पैंसठ थी। वह बहुत छोटा-सा गाँव है।

किन्तु आस-पासके गाँवोंसे गुजराती किसानोंके झुण्डके-झुण्ड बापूके दर्शनके लिए एकत्रित हो रहे थे। विशेषता यह कि उनमें-से शायद पंचानवे प्रतिशतके लगभग तो पैदल ही, मीलोंका प्रवास करके आये थे। गुजराती किसानका दर्शन मैंने वहीं उसी समय किया। उनकी पीठपर एक झोला होता जिसमें एक लोटा, एक धोती और खानेके लिए गाँठिया नामक गुजरातका बना पदार्थ होता। शामको साढ़े पाँच बजे मैं गुजराती किसानोंसे बात करता हुआ बुआ गाँवसे समनी आनेके लिए रास्तेमें पड़नेवाले केरंवाड़ा और सूड़ी गाँवोंकी ओर चला। गाँवोंमें लोगोंने पानी सींच रखा था। बिछायतें बिछा रखी थीं, हाथ-कते सूतकी मालाएँ तैयार थीं। उस समय मुझे गुजरातके गाँवोंमें बापूके दर्शनार्थ रास्तेमें दस-दस पाँच-पाँचकी टोलीमें गुजराती किसान पुरुष और स्त्रियाँ साथ चलते दीखे। अँधेरा होनेपर किरासन लैम्पोंकी क़तार अनेक रेलवे स्टेशनोंका भ्रम पैदा कर रही थीं। जिस टोलीको समझाइए, कि बापू आते ही होंगे मत जाओ उनके उत्तरोंके वाक्योंको सुनिए,

"हमारा बापू दुबला-पतला है, कहीं वह बीमार नहीं हो गया हो। कहीं उसे कंकड़-पत्थरोंमें चोट नहीं आ गयी हो। कहीं काँटा लगनेसे वह रास्तेमें ही बैठ न गये हों।"

"शायद इस पापी सरकारने उन्हें बुआसे चलते समय ही गिरफ़्तार कर लिया हो।"

उस समय वहाँ दो ही रस विद्यमान थे। श्रद्धाका शान्त रस और दर्शनकी बेचैनीका करुण रस; कि इतने ही में दूरपर एक लालटेन दिखायी पड़ी और गुजराती किसान नर-नारी ज़ोरसे चिल्ला उठे। "बापू आवे छे वधावी लेज्यो"। लोग इतने बेचैन कि दूरकी लालटेनको देखनेके लिए पासकी झाड़ीपर चढ़ गये; सो भी अपनी-अपनी लालटेन लेकर मानो बापूके आगमनपर लालटेनोंके रूपमें वृक्षोंमें प्रकाशके फल फले हों। ठहरनेकी बात सहन न करनेमें नरसेना मानो वानरसेना बन गयी थी और त्रेताके राम-युगको दोहराने बैठ गयी थी। ज़रा उन किसानोंकी बातें सुनिए,

"भाई, तूने बापूको देखा है ?"

"हाँ रे !"

"फिर तुम लोगोंने जम्बूसरसे इतनी पैदल यात्रा करनेके लिए बापूको रोका नहीं ?"

साथ चलते दूसरे किसानने अपनी पाग सम्हाली और बोला, "बापूको कौन रोक सकता है ? वह तो नर्मदाकी धार है !"

एक किसान जो इन बातोंको सुन रहा, था बोला, "बापू जलालपुर क्यों जाते हैं, यहीं मेरे गाँवके पास तो बहुत नमक बनता है, यहीं बनावें। मेरे गाँवके लोग तो बापूके जाते ही 'मीठू' नमक बनाने लगेंगे।"

एक किसान उत्साहमें कह उठा, "अमें आडा पड़ि जइ शू" याने हम औंधे पड़ जायेंगे, और बापूसे कहेंगे कि तुम तकलीफ़ नहीं भोगो, तुम्हारी आज्ञासे सारी गुजरात जेल जानेके लिए प्रस्तुत है, कि एक आवाज़ आयी "आव्या, आवी गया", और दूसरेने आवाज़ लगायी, "बापू आवे छे, बधावी लेज्यो।"

एक बहिन सड़कपर थककर बैठे हुए पुरुषोंको फटकारकर बोली, "सामय्याने चालोने शूं बेठवाने आ छो?" ग़रज़ यह कि गुर्जर गावोंकी वसुन्धरा अपने लालटेनोंका लंगर लिये दीवाली-सी सजाती चल पड़ी। ज्यों ही बापू और उनकी टोली पास आयी, गुर्जर किसानोंकी बातचीत बन्द हो गयी, मानो शील और संयमके रूप बनकर वे नमक सत्याग्रहियोंके साथ चलने लगे। आगे-आगे गुजरातकी किसान महिलाएँ बापू और वल्लभभाईका गुणगान अपने गीतोंमें करते हुए चल रही थीं। मेरा मन मुझसे पूछ रहा था, 'इन बिलकुल ताज़े गीतोंको गाँवोंकी भाषामें इतने शीघ्र कौन बना गया?' फिर मनने ही उत्तर दिया, 'ये भगवान् कालकी घड़ियाँ हैं जो किसी साहित्यिक या किसी रचना-कौशलके लिए नहीं ठहरतीं। यह साहित्य नहीं, समय बोल रहा है।'

सूढ़ीसे समनीके लिए पक्की सड़क थी, ढाई मील लम्बी, किन्तु

बापू अपने सत्याग्रहियोंको लेकर धूलभरी कच्ची सड़कसे आये थे। गड्ढे, गरमी, ज़मीनमें पड़ी दरारें और काँटे; उस सड़कमें सब कुछ था। हाँ, यह मालूम हुआ था कि गुजराती किसान नर-नारी दिन-भर उस सड़कके काँटे चुनकर दूर फेंक दिया करते थे जिस सड़कसे बापू जाते थे। बापू लम्बे चलकर आये थे। सिरमें खादीका एक श्वेत टुकड़ा बँधा था। घुटनों तक खादीकी एक धोती पहने हुए थे, उनके एक हाथमें लाठी थी; दूसरा हाथ एक स्वयंसेवकके कांधेपर रखा हुआ था। बदन खुला था। दो-दोकी क़तारमें सारी सेना कह रही थी,

*रघुपति राघव राजा राम,*
*पतितपावन सीता राम।*

मानो यह नमक सत्याग्रहके युद्धमें रण-वाहिनीका घोषणामन्त्र था। बापू समनी गाँवकी धर्मशालामें ठहराये गये थे। बिस्तरेको लपेटकर बनाये गये एक तकियेसे वे टिके थे, और आते ही उनकी तेलकी मालिश की जा रही थी। उस समय कुछ पत्रोंको बापू ख़ुद पढ़ रहे थे, और कुछको उन्हें पढ़कर सुनाया जा रहा था। उनके पाँवोंमें काँटे नहीं गड़े थे, किन्तु गाँवके पासके कपासके खेतके कुछ डंठल गड़ गये थे। उसी समय थके हुए बापू विश्राम करनेकी बजाय, तेलकी मालिश पूरी होते ही सभा-स्थानमें जानेके लिए उद्यत हो गये, परन्तु इसके पहले वे इस बातकी सावधानी ले रहे थे कि बाहरके जो लोग समनी गाँवमें आ गये हैं, उनके खाने-पीने और रहनेकी व्यवस्था समुचित है या नहीं! उस सभामें उन्यासी पुलिस-पटेलोंने इस्तीफ़े दिये थे। बम्बईका, उन दिनोंका अँगरेज़ सम्पादित टाइम्स ऑव़ इण्डिया उन दिनों लिख रहा था कि नेताओंकी ज़बरदस्तीसे पुलिस-पटेल इस्तीफ़ा दे रहे हैं। महात्माजीने समनीकी सभामें गुजरातीमें कहा, जिसका आशय था कि आपमें-से कोई भाई जबरदस्ती पुलिस-पटेलोंसे इस्तीफ़ा न दे, और जिनने ऐसी ज़बरदस्तीसे इस्तीफ़ा दिया हो वे अपना इस्तीफ़ा वापस ले लें। पुलिस-पटेलोंको अपना इस्तीफ़ा वापस लेनेके लिए मैं बारह घण्टेका समय देता हूँ।

उस समय पुलिसका हर हवलदार नमक अफ़सर बना दिया गया था जिससे वह सत्याग्रहियोंको गिरफ़्तार कर सके। वहीं खबर मिली कि जलालपुरके आस-पासकी ज़मीन खोदकर वहाँका स्थान नष्ट किया जा रहा था, जिससे गान्धीजी तथा सत्याग्रही वहाँ नमक न बना सकें। खेड़ा ज़िलेकी पुलिसने मोटर-लारियोंके ड्राइवरोंको सूचित किया था कि गान्धीजीके प.स जानेवालोंको नहीं ले जायें। गान्धीजीसे मिलने जानेवाले यात्रियोंको रोकने के लिए बेगारमें गुजराती किसानोंको पकड़ा गया और जो लोग न रोक सके उन्हें कष्ट दिया गया। ज़िलेमें पुलिसके अफ़सरों ( Inspectors ) को यह हुक्म दिया गया कि शुद्ध खद्दरके कपड़े पहनकर लोगोंको गान्धीजीके प्रभावमें जानेसे रोकनेका प्रयत्न किया जाये। मैंने उस समय उस सेनामें श्री हरकरे और श्री सोहनीसे वातें कीं, और सब हाल-चाल पूछा। फिर बापूजीका बुलावा आया जहाँ वे यह बताते रहे "नमक सत्याग्रहमें प्रान्तोंमें किस तरह काम हो। लोग कितनी शक्तिसे इस कामको करें। भाषणोंमें गरमी न हो, किन्तु क्रियामें दृढ़ता हो। लोग सोच-समझकर कामको हाथमें लें। कार्यकी कठिनाइयोंसे लोगोंको पहले ही अवगत कर दिया जाये और सत्याग्रहियोंकी संख्या बढ़ानेका हमारी ओरसे बिलकुल प्रयत्न न हो। हाँ, अपने मनसे ही लोग इसमें शामिल हों, और सब तरहके खतरे उठानेको तैयार हों तो दूसरी बात है।"

सारी बातोंसे मुझे लगा कि महात्माजी देश-भक्ति और मानव-भक्तिके महान् सन्देश-वाहक हैं। ब्रिटिश-विरोध उनके कार्यक्रमका अंग नहीं है। श्रमशील और सौजन्यपर उनका विश्वास है। शत्रुसे बदला लेनेकी कोई भावना उनके पास नहीं है। ब्रिटिश सरकार यहाँ स्थापित है इसलिए वह अपनेको विरोधी भले ही माने, किन्तु इस महापुरुषके कार्य करते समय जो भी सरकार सामने होती इसी तरह विरोध होता। मानो महात्माजी देश-भक्ति और ब्रिटिश-विरोध इन दोनोंके बीचकी धारासे पूर्ण अवगत थे।

महात्मा गान्धी ऐसी ध्वनि थे जो लोकजीवनके पत्थरोंको पुष्प बनाती

और छेदकर डोरा बनकर उनके कोटि-कोटि मिलनका योग साधती। कितने धीमे वे सोचते थे, किन्तु उस ध्वनिकी कितने ज़ोरकी आवाज़ लोगों-के हृदयसे गूँजती उठती थी। महात्माजीके दोनों हाथ चलते थे, एक हाथ मानो अपने देशका भाग्य लिखता था, दूसरा हाथ मानो उन भुजाओंको उठाता था, जिनमें उठनेका दम न होता था। कैसे आश्रममें रहते थे वह, मानो देशकी साँस आनेका कण्ठ हो, वह स्थान ग़रीबोंकी आवाज़ राज-महलोंसे टकरानेका द्वार था। गलियोंमें, कूचोंमें, झोंपड़ियोंमें, महलोंमें, पहाड़ोंमें, गुफाओंमें, भीड़ोंमें, एकान्तोंमें, विजयोंमें, पराजयोंमें, साहित्य भले ही चुप रहे किन्तु सेवाग्राम बोल रहा था, चलो आगे बढ़ो। मानो जीवन, साम्राज्यवादी देशमें जीनेका जीवन, चढ़ाव और घाटीके बीचका उतार हो। शरीरकी साँसकी तरह चलते ही रहना है। ठहरना जीवन नहीं है। देवमन्दिरोंके घण्टे मानो उसीकी वाणीमें उसीके प्रार्थना-शब्दोंको गुँजानेके लिए बजते थे। वह चाहे जिस गाँवकी जिस गलीमें बोले समस्त मानवताके गौरवसे गीली और बोझीली बोली बोलता था। पोपले मुखका मुक्त हास्य मानो तुलसीके सुशब्दोंमें कहनेको जी चाहे, "कहा कहऊँ छवि आज की ?" कष्ट सहन, साम्राज्यवादी यातनासे बढ़कर साथियोंकी कमज़ोरी उसके अन्तःकरणमें दूख उठती थी। वह इच्छा करे और विश्व न बदले, यह कैसे हो सकता है, यह कौन माने ? भुजाएँ ? कितने कष्टभोगियोंने उन्हें अपने हृदयमें अनुभव नहीं किया। कितने कष्टभोगी उन्हें आज भी अपने हृदयमें अनुभव नहीं करते ? रूढ़ि, शास्त्रसे ज़्यादा बलवान् होने लगती तो उसकी एक मुसकराहट या एक झिड़कीमें उसका कहीं पता भी नहीं चलता। एक बोली बोलता था, उठो, जागो, स्वतन्त्र हो। अपने रामके आगे हाथ पसारकर वह कार्यक्षेत्रमें यही माँगता रहा, कारागृहमें उसने यही माँगा। वधगृहमें भी यही माँगा।

हमें शोक हो कि उसे किसीने क्यों मार डाला ? जिस हिंसाकी जड़ उसने पृथ्वीसे उखाड़नेके लिए विश्वको झकझोरा था, उस हिंसाने गान्धी-

को नहीं मारा, अपने-आपका वध कर लिया। आज वे कहाँ हैं, जिनके उपदेशोंपर गान्धीके वधका इलज़ाम है? आज उसकी समाधिमें-से भी सुगन्ध आ रही है, कि जिस सुगन्धित वायुसे भारतीय राष्ट्र साँस ले रहा है, चित्रकार चित्र बनाता है, मूर्तिकार पत्थरपर इनसानकी कोमलताको उतारनेमें व्यस्त रहता है, नर्तक, शरीरके सन्तुलन और बलपर रसराजका अवतरण करता है, बाग़के वृक्षोंके पत्ते, फूलों और कलियोंको पंखे झलते हैं। सृष्टिका प्रजनन वनों, उपवनों और पर्वतोंमें पृथ्वीसे उलझकर गुरुत्वाकर्षणसे ऊपर उठ रहा है और फूल और फल बनकर पृथ्वीकी गोदमें झर रहा है। ऐसे समय हम मानो अपनेसे पूछते हैं, श्रम! तुम्हारी आराधनासे कलाने पुरुषार्थको उद्दंण्ड होनेसे और कलाको कायर होनेसे बचा लिया। जहाँ तुम्हारी आवाज़ है, वहाँ कान आज चाहे न पहुँच पाते हों, किन्तु मनके कान उसे सदैव सुनते रह सकते हैं। अँगुलियाँ चाहे तुम्हारे चरणोंको न छू सकें किन्तु आँखें, उनमें तुम झूल सकते हो; झूल रहे हो। तुम्हें वन्दन, तुम्हें अभिनन्दन।

# महात्मा गान्धी

## ४

गान्धीजी कहा करते थे, "जवाहर कुछ भी कहे, मेरे मरनेके बाद वह मेरी बोली बोलने लगेगा।" कितना सत्य है यह कथन। लगता है गान्धीजीकी दो भुजाएँ भारतवर्षपर छा गयी हैं, जवाहरलाल और विनोबाभावे। बापूके राजनीतिक शिक्षणकी अद्‌भुत विशेषता हम प्रत्येक प्रान्तमें देख रहे हैं। समस्त देशमें आज वही लोग सफल राजनीतिज्ञ हैं; जिन्होंने महात्मा गान्धीके नेतृत्वमें शिक्षण पाया है। राष्ट्रपतिसे लेकर सुशीला नायर तक सारे देशमें एक दृष्टि दौड़ाइए, और बदलते हुए भारतवर्षके साथ अनुभव कीजिए कि गान्धी जीवित है, युगों-युगों अमर है, और वह अपनी भ्रू-भंगिमासे मृत्युका उपहास कर रहा है। जब गान्धीजी थे, उनकी 'अँगुली' का संकेत राष्ट्रका नियमन करता था, आज उसकी प्रेरणाके बलपर भारतवर्ष विश्वके सामने ऊँचा मस्तक किये हुए खड़ा है।

अभी उस दिन तक हम उसे खुली आँखों देखते थे, और प्रहारके लिए, पुष्पहारके लिए, सत्कारके लिए, और समर्पणके लिए, हमारे हाथ उस विभूति तक पहुँच जाते थे। आज आँख मूँद लेनेपर वह वन्दनीय नायक, मानो हमारे पास खड़ा-सा दिखायी देता है। अब हम भुजाओंके बल नहीं, स्मृतियोंके बल उस तक पहुँचते हैं। अब साबरमती, सेवाग्राम या दिल्लीकी भंगी कॉलोनी जानेके लिए खरीदी हुई टिकिट हमें गान्धीजीके पास नहीं पहुँचा पाती। अब गान्धीजीको पानेके लिए हमें स्वयं अपनी भुजामें, अपने ईमानमें, अपने अन्तःकरणमें खोज करनी होती है।

शंकराचार्य नहीं था वह, धर्मकी गद्दीका स्वामी भी नहीं था, किन्तु लोग उसकी बात धर्माज्ञाकी तरह सुनते थे। वह शासक नहीं था, किन्तु

उसकी आज्ञा शासकसे अधिक वलके साथ मानी जाती थी। उसने सेनापति-के ज़िरह्‌वख़्तर नहीं पहने; किन्तु देशकी उथल-पुथलका इतिहास कह रहा है कि किस तेजस्वी भारतीयने अपनेको उस सेनानायकका सैनिक नहीं माना?

आजका भारतीय गान्धीके प्रकाशकी इयत्ता अनुभव करनेके लिए चीनसे लेकर कुस्तुनतुनिया तक अपनी साँस लेता है। रूसका अतिरेक-वाद, मानो ठहरनेके लिए कुण्ठित है, और पश्चिमका सर्वग्राही साम्राज्य-वाद, मानो अपने मरनेकी अन्तिम साँस ले रहा है। रूसके बूते ईजिप्त और ईरान ऊँचे उठकर बोलना नहीं सीखे थे।

हिन्दुस्तानने विश्वसंहारकोंको चुनौती देना नहीं जाना था। जिस ओर लोग देखते थे, थकावट अनुभव करते थे। आदमी आदमीको खानेको लाचार था। साथ न दो तो मरो, साथ देनेका विरोध करो तो मरो, कुछ माँगो तो मरो, कुछ लेनेसे इनकार करो तो मरो। जगत् मानो एक झूठी कहानी था और उसका सत्य अत्याचारीसे मिलकर या विछुड़-कर मरना, केवल मरना था।

विश्वके इस मरणको जीवनमें कौन बदल गया? जिसकी अस्थियाँ और चिताकी राख मन्दिरों, घाटों, चवूतरों और पुण्यस्थलोंमें दबाकर रखी गयी है। आज मौन हो जानेके वाद भी विश्वकी कोटि-कोटि भुजाओंमें वह किस तरह अवतरित दीख रहा है? भूदानका यात्री विनोवा, मानो वापूका सन्देशवाहक होकर, भूपालका यात्री हो गया है।

हिंसाका भूडोल थमनेको वाध्य है, क्योंकि पृथ्वीके गोलेके शान्त गोल चक्र अशान्तिसे ऊब उठे हैं, रक्तके रंग, मानो दुनियासे पुँछ गये हैं। सफ़ेद और काले चमड़ेके भेदपर जीनेवाली सफ़ेदी, इस भेदपर अमल करनेसे घवरा रही है। यह तलवारकी शक्ति नहीं है। यह निर्वल भारतवर्षकी साहसी हुंकार है।

२ अक्टूबर गान्धीकी जन्म-तिथि भले हो, किन्तु हम उसे अभी त्योहार नहीं बनने देंगे, क्योंकि जिस दिन हम गान्धीजीको मरा हुआ मानें, उसी

दिन तो श्राद्ध करें, त्यौहार मनावें। गान्धी जीवित हैं। यादोंका गान्धी हमसे छूट गया हो, किन्तु यादोंका गान्धी मर नहीं सकता, मारा नहीं जा सकता! कृष्णको एक व्याधका तीर लगा था, गान्धीको एक वधिकका पिस्तौल लगा। नियतिके ये बहाने और भाग्यकी यह छेड़खानी, क्या कभी गान्धीको मार सकती है?

गंगाके पानीमें खून नहीं दिखायी देता, वहाँ गान्धी है, किन्तु यांग-टिसिक्यौंग, वोल्गा और टेम्सका पानी भी खूनी नहीं होना चाहता; खूनी होते शरमाता है, वह गान्धीकी, और केवल गान्धीकी छाया है। कुछ वर्ष पहले गान्धीकी मूर्ति बोलती थी, और अब जवाहर और विनोबाके रूपमें गान्धीकी कीर्ति बोल रही है।

नये ज़मानेके निर्माता भागीरथी बच्चे उठो! तुम्हारी उगती हुई मूँछों और उठती हुई जवानियोंमें बलिदानका वह आवेश आने दो, जो अपने बायें हाथपर पृथ्वीके गोलेको सँभाल सके और दाहिने हाथमें उन औज़ारोंको रखे, जिससे पृथ्वी खुदती चले, आशा बँधती चले और नवीन निर्माण अवतार धारण करके, अग-जगमें डोल उठे, गान्धीकी वाणीमें बोल उठे!

# सुभाष मानव : सुभाष महामानव

जब तुम भारतसे गये, लोग कहते थे, तुम बीमार हो, घरसे बाहर नहीं निकल सकते, और तुम थे, कि घरसे क्या, देशसे भी बाहर चले गये। ग़रज़ यह कि, रहस्य सोचा अरविन्दने, रहस्य काव्य बनाकर लिखा रवीन्द्रने और रहस्य अवतरित हुआ तुम्हारे रूपमें ।

तुम जब युद्धसे लौटे, लोगोंने सोचा, तुम अमरीका और इंग्लैण्डसे घिर जाओगे, बन्दी होगे, तुमपर मुक़दमा चलेगा, दण्ड दिया जायेगा। हिरोहितो, हिटलर, पेतां और तुम डबल मार्चमें एक साथ थे। सर्वनाशमें, मित्र राष्ट्रों-की सूलियोंपर, अलग-अलग तिथियोंमें भले होओ, किन्तु भाग्य, परिणाम, दण्ड और यात्रा, ये एक ही होंगे।

किन्तु फिर तुम्हारा विमान चला, अपने सिपाहियोंसे विदा लेकर, किसी अज्ञात लोकको; लोगोंने कहा कि वह विमान गिर पड़ा, विमान टूट गया, तुम गिर गये, तुम अज्ञात लोकके यात्री अनन्त लोकके यात्रा-पथी हो गये। तुम्हारी मृत्युपर कुछके जीमें काँटा चुभ गया, कुछके जीसे काँटा निकल गया, किन्तु तुम्हारी मौतपर देशवासियोंने विश्वास नहीं किया, वे सोचते रहे, और सोचते रहते हैं कि 'किसी दिन, किसी देशमें, किसी वेशमें, तुम ज़रूर मिलोगे।' किन्तु तुम तो 'रहस्य' हो न ? जीवनमें, मरणमें तुम्हारा स्वभाव कैसे बदलेगा ? एक बात सच है, भारतका भाग्य बने, भारतका भाग्य बिगड़े, तुम अब उस निर्माणके हिस्सेदार नहीं हो सकते।

तुम दुनियासे हटे या न हटे, विश्वगतिके परदेसे हट गये। कैसे कठोर निर्णय हो रहे हैं, आँसुओंको हँसते, मृत्युको मुसकराते और निर्माणोंमें भूकम्प आते जगत् देख रहा है।

तुम लोगोंके मनपर हो, जीवनपर छाये हो, क्योंकि तुमने भारतीय जीवनको युद्धके बीचो-बीच 'जीवित' किया है। तुम भारतीय विश्वासोंपर हरिया रहे हो, क्योंकि स्वतन्त्रता मिलनेके दिन, वे तुम्हारे प्रयत्नोंका मूल्य चुकाना चाहते थे, किन्तु तुम न थे, तुम पास न थे। 'रहस्य' पर भी क्या किसीका क़ब्ज़ा होता है? तुम भारतीयोंकी कल्पनाओंपर छाये हुए हो। अब सहगल, ढिल्लन, अबुलरहमान, शाहनवाज, शिन्देके होते हुए भी यादें आकाश-में तुम्हें खोजती हैं, पुकारकी वाणी मानो कहींसे टकराकर लौट आती है, आँखोंमें कोई दीखता है, किन्तु बाँहें खींचकर उसे हृदयसे नहीं लगा पातीं। 'श्रद्धा' सँजोनेकी नियति आज्ञा नहीं देती। वह तुम्हें सामने लाकर खड़ा नहीं कर देती है। श्राद्ध करनेको भारतीय मन राज़ी नहीं होता। वह मानता है कि तुम जहाँ कहीं हो, हो अवश्य।

तुम 'रहस्य' हो गये। इस देशके सामन्त, वीर, योद्धा, और बलि-दानी प्रायः रहस्य होते आये हैं, वे अपमानोंको अनन्त सामर्थ्यसे अपनाते हैं और वरदानोंके समय रहस्य हो जाते हैं।

तुम बलिपन्थी, तुम रक्त-क्रान्तिके होता, तुम सेनानी, तुम सिपह-सालार ! क्या सौन्दर्य था तुम्हारी बालमूर्तिमें ! तरुणाईकी तो मानो,

*'अनब्याही हुलसी फिरैं, ब्याही मीड़ें हाथ'*

की दशा थी, तलवार लेकर तबीयतपर आनेवालोंकी अथवा तलवारवालोंकी तबीयतपर बाग़-बाग़ होनेवालोंकी।

तुम्हारे आस-पास, नहीं, तुम्हारे पास बेदाग़ बहादुरी मानो अनदेखा-सा अनहोनापन बनकर, देखनेवालोंको अचम्भेके जादू-भरे उल्लास बाँटती रहती। और बंगाल, वह तो मानो,

*नैनों के बंगले में तुम्हें, सैनों से बुला लेंगे;*
*पलकों की चिक डाल, पिया को, पुतली पर सुला लेंगे...*

बिना कहे कहती रहती है। अपनी क़ीमत अमरोंसे भी अधिक कूतनेवाला प्रेम, बोलता नहीं है न। बड़े मँहगे मोलोंकी थी, तुम्हारी यह मनमोहनी

मरण-न्योतती मस्ती !

बंगालके लाड़ले तुम, अपने-आप क्रान्ति-पथपर नहीं आये। तुम्हें खोजा था, प्रवुद्ध लोगोंमें देशबन्धुदासने। प्यार करनेवाला और खोजनेवाला, मानो सव निहाल हो उठे, जब उन्होंने देखा, कष्ट सामने आनेपर तुम अधिक कष्ट माँगते, और त्याग करनेपर तुम और अधिक त्यागके लिए वेचैन हो उठते। तुम कष्टको जोड़ते, त्यागको गुणित करते। रहस्य मानो तुम्हारा स्वरूप ही नहीं, स्वभाव भी था।

तुम्हारी जीवन-यात्राएँ सदा विचित्र रहीं। तुम चले थे, 'आई० सी० एस०' का इम्तहान देने, अपने ही भाइयोंको गुलाम मानकर, गुलाम वनाकर विदेशी हुकूमत करनेवालोंकी 'वदजात' में मिलने, और पहुँच गये 'सी० आर० दास'के क्रान्तिवादियोंमें, जहाँ अपने ही भाइयोंको गुलाम बनानेवालोंका शिकार खेला जाता और भाइयोंको जन-देवता मानकर उनकी पूजा की जाती, मानो रक्तका टिकिट लेकर, देश-सेवाके अग्नि-पथमें स्वर्ग पहुँच गये। इसी तरह तुम प्रस्तुत थे देशभक्तोंके साथ किसी ब्रिटिश जेलमें युद्धकाल बितानेके लिए, और पहुँच गये युद्धके वीचो-वीच ब्रिटेनके शत्रुओंको मित्र वना, युद्धकी सेनाके सिपहसालार और भारतीय स्वातन्त्र्यके 'प्रथम वाइसराय' कहलाने। फिर मित्रराष्ट्रोंके जीतनेपर, अपने सिपाहियोंसे विदा लेकर तुम चले थे, किसी सुरक्षित स्थानकी ओर, जहाँसे तुम वज्रकी शक्ति वनकर, भारतीय राष्ट्रके शत्रुओंको मज़ा चखा सको। और विमान टूटनेसे तुम पहुँच गये अनन्तके लोकमें, जहाँ देवता तुमपर पुष्प-वर्षा करें। ग़रज़ यह कि जीवनके यात्रा-पथमें तुम्हें 'मनचीते' से वड़ा 'प्रभुचीता' मिलता रहा।

जीवन-पथ भी तुम्हारा संघर्षमय रहा। देशवन्धु देवलोकवासी हुए, तव वंगालका नेतृत्व तुम्हें प्राप्त न था। देश-प्रिय सेनगुप्तासे कठोर संघर्ष हुआ। ऐसा संघर्ष जिसमें तुम्हें पछाड़ मिली।

कांग्रेसके अखिल भारतीय पथमें तुम्हारे सामने जवाहरलाल थे। क्रान्तिवादियोंका दल, वंगालका दल, और भारी हलचलके वाद भी गान्धीजी

और मोतीलालजीके सम्मिलित वलके सामने तुम छोटे पड़ गये । तुम्हें पुनः कलकत्ता कांग्रेसमें (१९२८) ठोकर मिली ।

जब तुम स्विट्जरलैण्डकी रोग-शय्यापर पड़े स्वतन्त्रताका स्वप्न-चित्र बना रहे थे, तब तुमने अपने देशवासियोंको चेतावनी दी थी कि वे गान्धीके नेतृत्वसे दूर हट जायें, किन्तु जब तुम लौटकर भारत आये, तब देशभक्त नारीमैन, डॉक्टर खरे और न जाने कौन-कौन गान्धी-विरोधी तुम्हें स्वयं नष्ट करने पड़े, और गान्धीके आशीर्वादोंसे भरी हरिपुरा कांग्रेसके सभापतित्वकी गादी—वह राष्ट्रपतित्व तुमने, स्वयं गान्धी और वल्लभभाई और गान्धीवादियोंके हाथों ग्रहण किया । इसमें भी कौन हारा, तुम या गान्धी ?

फिर डॉक्टर पट्टाभीसे लोहा लेकर, गान्धीको पीछे ठेलकर तुमने त्रिपुरी कांग्रेसकी गद्दी जीती । कितनी कटुता, कितनी भर्त्सना, कितने इलज़ामोंके बीच । एक-सौ तीन ज्वरमें भी कौन इलज़ाम तुमपर नहीं लगा, किन्तु तुम्हारी जीती हुई गद्दीपर राज किसने किया ? यहां भी तुम्हारे सामने कठोर संघर्ष था । तुम्हें हारना पड़ा । कलकत्तामें तुमने कांग्रेसकी गादी छोड़ दी ।

वह भी एक दिन था । तुमने सोचा, तुमने ठाना, तुमने शुरू किया, कि कांग्रेस-जैसी एक समानान्तर बलशालिनी संस्थाका निर्माण करोगे और मेल किया श्री फ़ज़लुलहक़से जो तुम्हारे बाद लीगके जहरसे बंगालको भूखा मारने और दंगोंमें भून डालनेमें ही सफल हुए ।

किन्तु तुम, तुम गान्धीके साथ जेलमें बैठकर माला जपनेको तैयार न थे । तुम युद्धको प्रभु-द्वारा प्राप्त स्वर्ण-सन्धि समझते थे, और भारतीय आज़ादीके लिए उसका उपयोग करनेके लिए इतने निश्चिन्त थे कि 'प्राण जाये' तो भी तुम उस अवसरको छोड़नेके लिए तैयार न थे । ऐसे निश्चयके लोगोंके भाग्यमें फूलोंकी शय्या कभी नहीं रही होती । उनके गलेमें पड़े फूलोंके हार, विश्वके सुगन्धायमान अस्तित्वकी क्षणिकताके सिवाय और क्या व्यक्त करते हैं ।

तुमने अपनी दृढ़ताको, कभी भी अवसर-वादिताकी गन्दी चादरसे नहीं

ढाँका। बड़े तुम्हारी पूजाके पात्र थे, तुम्हारा पथ-भंग करनेके हक़दार नहीं। तरुण तुम्हारी सेनाके सिपाही थे ; मातापर क़ुरबान करनेकी हवन सामग्री ! तुम्हारे प्यार, दुलार, रोमान्स और चुम्बनमें-से क़ुरबानीके यज्ञ-धूमकी सुगन्ध आती थी, और सिर उतारनेके रक्त-विन्दु उनमें-से चू उठते थे !

पुलिसका कितना पहरा था। कलकत्तेमें उस समय स्कॉटलैण्ड-यार्डके शिक्षाप्राप्त कितने पुलिस खिलाड़ी तुम्हारे दायें-बायें तुमपर निगहबानी करते हुए। फिर तुम बीमार; तुम्हें दाढ़ी ऊग आयी। और एकाएक तुम ग़ायब।

हिटलरका तुम्हें भारतका प्रथम वाइसराय बनाना। महीनों कोई खबर न पाकर, भारतीयोंको तुम्हारी मृत्युकी दुःशंका, और एक दिन तुम्हारा सेगाँव रेडियोपर भारतीयोंसे बोलना। और वह आज़ाद हिन्द सेना, वह युद्ध, वह तैयारी। मानो युगके महान् और मरण माँगते तूफ़ानके हाथों तुमने अपने-आपको हँसते-हँसते सौंप दिया।

और एक ब्रिटिश-युद्धको जन-युद्ध कहनेवाली देशघातकता देशमें कहने लगी, 'वह जापानका एजेण्ट हो गया'। वह देशघातकता, जो खुद जापानके महान् पड़ोसीके हाथों रोटियों और नारोंपर बिक चुकी थी, किन्तु तुम थे कि जमानेकी छातीपर लिखे अपने सुनहले नामको, अपने हाथों मसलकर मिटा देनेके मूल्य तकपर, अपनेको संकटोंमें फेंक चुके थे कि 'भारत तू आज़ाद हो जा !'

और आज ! आज तो सब तुम्हारा गुण गाते हैं। तुम्हारे सिपाही भारतीय सेनामें ले लिये गये हैं। तुम्हारा 'जय हिन्द'का नारा भारतवर्ष और भारतीय सरकारका नारा हो गया है और स्वर्गीय शरत् बोससे स्वर्गीय सरदार-श्री गले मिले थे, और उन्हें भारतीय मन्त्रिमण्डलमें जगह भी मिली थी। किन्तु तुम ? भारतीय तरुणाई अपनेमें जब-जब बल खोजेगी, तो तुम्हें पुकार उठेगी !

एक भारतवासी, सिर्फ़ एक भारतवासीने अपनी सब सम्पत्ति तुम्हारे नाम कर दी थी। वे थे सरदार पटेलके ज्येष्ठ भ्राता, श्री विट्ठलभाई पटेल।

इतनी शक्ति कौन अपनेमें संचय करेगा ? यदि भारतको आज़ाद रहना है तो सुभाषकी ताक़त अपनेमें रखनेवाला सिपाही, सिपहसालार, सेनानी ही उसे आज़ाद रख सकता है।

और यदि आज सुभाष किसी ओरसे आ जाये ? तो वह अपनी स्त्री और पुत्रीके साथ महान् गर्वकी वस्तु होगा, किन्तु वह पूजा पायेगा, प्रलय-का चार्ज तो उसे किसी नवजवान ही को सौंपना होगा।

उसकी अनन्त असफलताएँ और मोद-भरी अगणित सफलताएँ भारत-को सम्पूर्ण सफल बनाकर गौरवमयी हो गयी हैं। क्रियाशील, स्वप्नदर्शी, भक्त और साधक जब अपने संकल्पोंपर समर्पित हो संघर्षोंपर उतरता है तब उस व्यक्तिकी असफलताएँ समाज और समूहकी सफलता बनकर, देशोंके रक्तमें लौटती आयी हैं।

तुम अरविन्दके न हुए,
तुम गान्धीके न हुए,
तुम सेनगुप्तके न हुए,
तुम जवाहरके न हुए,
तुम अपने न हुए,
तुम हुए केवल मातृभूमिके, भारतभूमिके !
तुम्हारी असफलताओंपर कुंकुम,
तुम्हारी अवज्ञाओंपर अक्षत,
तुम्हारी सेवाओंपर पुष्प,
तुम्हारी सेनाओंपर दीपदान,
तुम्हारे निश्चयोंपर जय-जयकार,
तुम्हारे बलिदानोंपर—

आज़ाद भारतवर्षके—

अमित गर्व।

# तेजस्विताके प्रतिनिधि : विट्ठलभाई

बंगालके प्राण सेनगुप्ताके देहावसानपर हमने लिखा था, "समस्त भारत रूठी हुई स्वाधीनता देवीको मनानेके लिए, उसके वक्ष:स्थलका श्रृंगार करनेको बलिदानोंकी माला गूँथ रहा है।"

२३ जुलाईने उस मालामें श्रीयुत जे० एम० सेनगुप्ताके प्राण गूँथ दिये थे। २२ अक्टूबरने स्विट्ज़रलैण्डके जिनेवा नगरमें भारतीय राजनीति और तेजस्विताके प्रतिनिधि देशमान्य पटेलको भी उसी मालामें गूँथ लिया। स्वतन्त्रता? आह स्वतन्त्रता? वह इतनी सस्ती चीज़ नहीं, जो दो-चार बलिदानोंमें प्रसन्न हो जाये! इतिहासके पृष्ठोंपर बलिदानके जो स्मृति-चिह्न बने हुए हैं, उन्हें पढ़-पढ़कर संसार आंसुओंके समुद्रमें डूबता रहता है।

श्रीयुत विट्ठलभाई पटेल भारतीय राजनीतिक उद्यानके वह पुष्प थे, जिसके रूप और सौरभका संसारपर रोब था। वह गुलाब थे जिसके चारों ओर काँटोंकी बाढ़ रहती है। उन्हें बन्धनमें फँसानेका प्रयत्न करनेवालेको शूलीका शूल सहन करना ही पड़ता था। असेम्बलीके मायाजालने कितने लोगोंको पथभ्रष्ट किया और निष्क्रिय नहीं बनाया। उस पदपर जहाँसे वैभव और गवर्नरी तकके उच्च सरकारी ओहदे अपनी मोहिनी फैला रहे हों, अपने-आपको अप्रभावित रख सके, ऐसी मज़बूती किसमें हो सकती है? देश-प्रेम, स्वाभिमान और राष्ट्र-मर्यादा उनमें सुरक्षित थी, और वह देश-प्रेम, स्वाभिमान और आत्म-विश्वासमें सुरक्षित थे।

उग्र समाज-सुधारक, और गम्भीर देश-भक्तके नाते वह वर्षोंसे भारत-की आँखोंमें आदर पा चुके थे। परन्तु असेम्बलीके अध्यक्षके पदपर तो वह ऐसे चमके, मानो वह नौकरशाहीके लिए धूमकेतु ही हों। जहाँ विरोधकी, षड्यन्त्रकी, व्यंग्यकी, सम्भावना हो, वहाँ ठोस और कड़े दिलके व्यक्तिकी ही

आवश्यकता है। वह असेम्बलीके अधिकार, शक्ति और मर्यादाके संरक्षक त्राता बनकर प्रसिद्ध हुए। उन्होंने मरी हुई-सी, सूनी, रक्तहीन, कंकालोपम, असेम्बलीको भी चमका दिया था।

असेम्बलीके निष्पक्ष अध्यक्ष यदि आज तक कोई रह सके हैं तो उनमें सबसे पहला स्थान स्व० पटेलका है। कौन-सा अध्यक्ष सरकारी प्रभावसे अछूता रहा। स्व० पटेल ही एक ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने अध्यक्षके पदको किसीके इशारोंपर रेहन नहीं रखा। आश्चर्यजनक गूढ़ता और कूटनीतिके साथ, एक बार वह हिज़ ऐक्सीलैन्सी कमाण्डर इन-चीफ़को फटकारते देखे गये। इतना साहस एक भारतीयमें? ऐङ्लो इण्डियन पत्रोंका कोई ठिकाना था? अँगरेज़ने इतने दिनों शासन करना ही सीखा था। ग़ुलाम भारतमें आकर बहुत दिनोंसे शासित होना भूल गया था। एक भारतीय-द्वारा कमाण्डर इन-चीफ़-जैसे व्यक्तिको, जो वायसरायके बराबर है, ज़लील होना पड़े! बात वास्तवमें आश्चर्यजनक थी, पर वह न्याय और निष्पक्षताका अटल पुजारी विधानको व्यक्तियोंके ऊपर ही देखता आया।

वह असेम्बलीके अध्यक्ष रहकर भी देशको भूले नहीं। कभी बारडोली सत्याग्रह फण्डमें चन्दा देते देखे गये, कभी राष्ट्रीय महासभामें उपस्थित होते हुए, कभी हर रॉयल हाइनेस रानी मेरीसे हाथ मिलाते हुए। जहाँ पहुँचकर सभी रंग बदल देते हैं, वे खरे सोनेकी तरह निकले। एक लेखकने लिखा था, "उस समय विट्ठलभाई स्वराजी न रहकर भी देशभक्त बने रहे, दलबन्दीमें न पड़कर भी स्वराजी बने रहे।"

बार-बार जेल-जीवनने उन्हें जल्दी ही संसारसे बिदा लेनेको बाध्य किया। वह भारतकी स्वतन्त्रताके लिए आठों पहर परेशान रहते। बीमार अवस्थामें भी चुप नहीं रहे। मृत्युके मुँहमें जाते-जाते भी भारतके सम्बन्धमें प्रचार करनेमें लगे रहे।

पटेलको खोकर हमने भारतीय स्वाभिमान, गम्भीर प्रकृति, कूट राजनीति, निर्भीकता, अपूर्व साहस, लगन, दृढ़ता, दूरदर्शिता और स्वतन्त्रता-

की एक प्रतिमाको खो दिया है।

उनके अभावने जो घाव राष्ट्रकी राजनीतिमें किया, वह सहसा भर नहीं सकता। वह अपने सानी आप ही थे। चाणक्य-जैसे व्यक्ति बार-बार नहीं जनमते। सरकारके वैभव और अपार शक्तिको फ़ुटबाल बनानेवाले व्यक्ति कभी-कभी ही मैदानमें दिखायी देते हैं। अभिमन्युके समान शत्रुके चक्रव्यूहमें घुसकर उखाड़-पछाड़ करनेवाली वीरता विरलोंको प्राप्त होती है।

## गणेशशंकर : एक संस्था

हिन्दीकी परम प्रेरक आत्मा श्रीयुत गणेशशंकर विद्यार्थीके स्वर्गवासको धीरे-धीरे इतने वर्ष बीत गये। काल-गतिसे सरकता २५ मार्चका यह दिन प्रतिवर्ष हमारे सामने आता है और बड़ी निठुराईसे उस भयानक हानिकी याद दिला जाता है, जिसे गणेशशंकरकी बलिके रूपमें समस्त हिन्दी राष्ट्र उस दिन मंज़ूर करनेको लाचार था। उस दिन न केवल एक परिवारने अपना सर्वस्व खोया, बल्कि हिन्दी-संसारने अपना जाज्वल्य वर्तमान खोया, भारतीय पत्रकार-जगत्ने एक आदर्श प्रेरक खोया, भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें परिस्थितियोंसे जूझनेवाले कार्यकर्ताओंने अपना नेता और संरक्षक खोया, और हिन्दू-मुस्लिम मेलमें आज़ाद भारतकी झाँकी देखनेवाले महात्मा गान्धीने साम्प्रदायिक क्रूरताकी वेदीपर वह उपहार खोया, जिसकी उज्ज्वल पवित्रता, बेदाग़ ईमानदारी और निर्मल समर्पणपर क़ुरबानी स्वयं क़ुरबान रही। मार्चकी वह २५वीं तारीख, क्या सन् १९३१ के पहले भी कभी इतनी निष्ठुर हुई थी।

'गणेशशंकर व्यक्ति नहीं, संस्था थे' यह तो कई बार दोहराया गया, किन्तु हिन्दी-संसारका दुर्भाग्य कि दो-चार छोटे-मोटे संगठनोंको छोड़कर अपने गणेशशंकरकी यादमें किसी संस्थाका निर्माण एक युग बीतनेपर भी नहीं हो सका। महत्ताको यदि उसके बाद बीतनेवाले समयसे मापा जाये तो कहना चाहिए कि गणेशशंकरके जीवन-पृष्ठ लगातार इतने वर्षों तक हमारे सामने खुले रहनेपर भी हम उनके आदर्शोंकी ओर कितनी गति कर पाये! इन वर्षोंमें प्रयाग, काशी, लखनऊ, देहली, आगरा, पटना एवं नागपुरके विश्वविद्यालयोंसे अनेकों तरुण डिग्रियाँ लेकर निकले, किन्तु निर्माणके क्षेत्रमें हमने अपने जीवनको इतना ऊसर साबित होने दिया कि गणेशजीकी क़ुरबानी प्रश्न-संकेतकी तरह हमारे सामने खड़ी है और हम

उसकी चुनौतीके सामने नतमस्तक होनेको बाध्य हैं।

गणेशजी पत्रकार थे। 'प्रताप' उनके विचारोंका वाहक था। यही एक ऐसा पत्र था जो सन् १९१५में एवं उसके आस-पासके राष्ट्रीय प्रकाश-विरल वातावरणमें अपनेको शपथपूर्वक कांग्रेसी कह सकता था। दरबारी प्रलोभन, शासनके तीखे रोषकी काली मुसीबतें और राजनीतिक मतभेदों-का जहरीला वातावरण; कोई भी गणेशजीके तिमिरहारी तेजको मन्द न कर सका। राष्ट्रीय क्षेत्रमें गणेशजी राष्ट्रीयताके समर्थक थे, परन्तु उनके जीवनमें ऐसी घटनाएँ भी आयीं जब कि उन्होंने राष्ट्रीय परिपाटी मात्रका पालन आवश्यक नहीं समझा। वे राजनीतिमें निर्धारित पथ एवं शैली-का निर्वाह मात्र करते चले जानेवाले नेता नहीं थे प्रत्युत एक ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व थे जो स्वयं अपनी अन्तःप्रेरणासे अनुप्राणित हुआ करता है।

'प्रताप' एक दिन उनकी शक्ति था, दूसरे दिन हिन्दी-जगत्की श्रद्धा बना, और आज वह उनकी शुभ-स्मृति है। पत्रकार-कलाके हिन्दी-स्वरूपके 'प्रताप' नामक राष्ट्र-मंचसे गणेशजीने कायरोंको, देश-घातकोंको, महलोंको, मुकुटोंको, अत्याचारियोंको और स्वार्थियोंको लगातार चुनौतियाँ दीं, और परिणाममें तलाशियाँ, अपमान, अर्थ-हानि और कारागार सहे। जब वे जेलमें जाते तो उनके पद-चिह्नोंपर चलनेवाले उन्हें 'तिलक' करते, किन्तु वह इतना मँहगा होता कि उतना महँगा तिलक लगानेवाला मस्तक ढूँढ़नेके लिए हिन्दीकी राष्ट्रभारती वर्षोंसे मानो गर्भ लिये 'तुलसी' फिरती है। हम जानते हैं कि 'प्रताप' की कठोर शक्तिसे व्याकुल होकर और अपनी प्रखरताकी पराजयसे लाचार होकर एक प्रधान देशी नरेशने गणेशजीको, अपने राज्यके प्रजाजनके नाते स्नेहसे हाथ बढ़ाकर मिलने बुलवाया और भेंटमें एक वस्त्रके साथ भारी सम्पत्ति पेश की। गणेशजीने कपड़ा रखकर सम्पत्ति लौटा दी और कहा, "कपड़ा लेकर गणेशने आपका आदर किया है। रुपये लेनेकी 'प्रताप' आज्ञा नहीं देता।"

गणेशजीने यह कभी बर्दाश्त नहीं किया, उनके प्रभाव एवं सामर्थ्यके भीतर रहते हुए कोई कार्यकर्ता या मित्र चाहे वह किसी भी क्षेत्रका क्यों न हो, मुसीबत झेले, और वह बैठे रहें। अर्जुनकी तरह जहाँतक उनके 'बाणों' की पहुँच थी, कार्यकर्ता, अपने संकटोंमें गणेशजीको अपने साथ पाते। वे उन व्यक्तियोंमें रहे, जो अपने कार्यशील मित्रोंमें हृदयकी तरह सन्निकट हो जाते थे अतः उनके संकल्पोंसे बढ़नेवाली दुनिया सन्निकटतामें भूलकर उनकी महत्ताका आकलन नहीं कर पाती थी। एक बार दादाभाई नौरोजीके स्वर्गवासपर लिखते हुए गणेशजीने कुछ इस आशयका लिखा था, "हम अब अन्धेरे-बाज़ारमें मोमबत्तियाँ ढूँढ़ते हैं, उससे पहले सूर्यके प्रकाशमें सूर्यकी क़द्र नहीं कर पाते।" आज यह बात उनके युगपर वर्षोंसे घटती चली आ रही है।

यों गणेशजीने अपना सिर देकर मानो यह संकेत दिया था कि स्वातन्त्र्यके देवताको आस-पाससे ज़मीनपर उतारनेके लिए हम सिर देनेकी यह खेती सहस्र-सहस्रगुनी हरी-भरी रख सकें। अतः सिर देनेका यह संकेत हिन्दी-जगत्की तरुणाईको याद रहे तो २५ मार्चको स्मृति कभी अपमानित न हो, और क्रान्तिकी क्यारियाँ कभी सूखी न दीख पड़ें। गणेशजीको याद करते समय हम एक बार यह सोच लिया करें कि हमारे सिर भी हैं, और हममें रक्त भी है, और युगका आमन्त्रण न जाने कबसे हमपर उधार है।

यदि हम ज़रूरतका रक्त-करने वसूल करकी मानवसुलभ दुर्बल भावनाको ठुकरा सकें तो हिन्दी-जगत्के नाते हमें ऐतिहासिक धरोहर और प्रेरणामय मूलधनके नाते, 'प्रताप' और उसकी शक्तियोंकी रक्षा किये जाना चाहिए। यही हमारी सच्ची गणेश-पूजा है।

# स्वागतं ते महाभाग : विनोबा

जाने कब, किसने ज़मानेकी स्मृतिमें 'संघे शक्तिः कलौ युगे'—वाली कहावत शामिल कर दी और तबसे आज तक बिना सोचे-समझे लोग इस भ्रान्तिको दोहराते चले आ रहे हैं। विचारकी कसौटीपर चाहे जिस युगको कसिए, व्यक्ति, और केवल एक व्यक्ति मिलेगा, जिसके महान् गुरुत्वाकर्षणके चारों ओर, व्यक्ति-समूह, सौरमण्डलके उपग्रहोंकी भाँति चक्कर काटता हुआ पाया जायेगा। वह शक्तिसागर, पूर्व और पश्चिमके मौलिक मतभेदोंकी अनुकूलतासे गान्धी हो, या लेनिन या रूजवेल्ट-जैसा कोई और, व्यक्तियोंकी शक्ति-धारा उसमें अपना जीवन विलीन कर देनेको विवश है।

अपने जीवनमें समूहकी अपेक्षा गुणको सदा अधिक महत्त्व देकर महात्मा गान्धीने एकसे अधिक बार उपर्युक्त भ्रान्तिपर प्रहार किया। और अभी उस दिन गान्धी-विचार-रश्मियोंसे आलोकित आचार्य विनोबा जब गान्धीके अकाल अवसानसे अपरिपूर्ण कार्यकी पूर्तिका उद्देश्य लेकर दिल्ली पहुँचे तब उनके साथ उनके दो-चार ऐसे भी साथी थे, जिन्हें याद रखनेमें इतिहास अकसर भूल कर दिया करता है। अतः आज एक बार फिर यह प्रश्न सामने आया कि समूहकी अपेक्षा व्यक्तिको, युग-पुरुषको, क्यों न शक्ति एवं सामर्थ्यका स्रोत माना जाये ?

हाँ, वह शक्ति-स्रोत, निर्मित ज़मानेका बाग़ी होता है। अपना ज़माना वह स्वयं निर्माण करता है। उसके आरोह-बिन्दुओंको छू सकनेमें सर्वथा असमर्थ, लीक-लीक चलनेवाले लघु-तन्तुओंकी रीझ और खीझ, उसे अपने अभिमतसे विमुख नहीं कर पाती। ज़माना लाचार होकर उसके पीछे चलनेको बाध्य होता है।

विश्वको एक प्रवाह कहा जाता है। प्रवाह तो निम्नगामी ठहरा।

युग-पुरुष इस चिरन्तन प्रवाहको जड़त्वके पतन-पथसे खींचकर चिन्मय केन्द्रकी ओर मोड़ देता है। राष्ट्रोंके जीवनमें ऐसे ही मोड़ उज्ज्वलतम अध्यायोंका सृजन करते हैं।

बेचारा इतिहास! विनोवाने, अभी उसे अवसर ही कहाँ दिया कि वह उनका परिचय लिखे! प्राचीन ऋषियोंके अनुगामी इस साधकनें अपनी साधनाके परिणामोंको नीरस और उपेक्षित रचनात्मक कार्योंके दुर्गमें सूम-के सोनेकी भाँति इस सावधानीसे बन्द रखा कि इतिहासके गुप्तचर उसपर डाका नहीं डाल सके।

महात्माजीसे मिलनके वर्ष १९१६ से लगाकर उनके निर्वाण सन् १९४८ तक वत्तीस वर्षोंकी लम्बी अवधिमें विनोबाजीने अपने नामको प्रसिद्धिसहित छापनेके लिए समाचारपत्रोंको केवल तीन मौक़े दिये और वे तीनों क्षणजीवी। असहयोग-आन्दोलनकी प्रखरताके बीचो-बीच, सन् १९२३ में मध्यप्रान्तीय सरकारकी निरंकुशता मध्यप्रान्तकी तरुणाईको राष्ट्रीय झण्डेके सम्मानकी रक्षाके लिए चुनौती दे बैठी। नागपुरमें झण्डा-सत्याग्रह छिड़ा। तत्कालीन सरकारी अधिकारियोंने, सत्याग्रहका संचालन करनेवाली समितिको सहसा गिरफ़्तार कर लिया। साधनानिरत विनोबा-का आसन झण्डेकी मानरक्षाके लिए डोल उठा। सत्याग्रह-संचालनका भार संभालनेके लिए वे बाहर आये, किन्तु दूसरे दिन सत्याग्रह प्रारम्भ करनेके पहले ही वह भी गिरफ़्तार कर लिये गये। समाचारपत्रोंके शीर्ष-स्थानमें विनोबाके आनेका यह प्रथम अवसर था। यह शुभ प्रारम्भ मध्य-प्रान्तमें, उनके बलिपथपर आरूढ़ होनेसे, हुआ।

सुदूर दक्षिण केरलसे आयीं एक दर्दीली पुकार। गान्धीजी बेचैन हो उठे। प्रभुके दर्शनोंसे वंचित हरिजनोंने मन्दिर-प्रवेशके लिए वहाँ सत्याग्रह छेड़ रखा था। विनोवाको उसके संचालनके लिए गुरुवयूर भेजा गया। यह सन् १९२४ था जब विनोबा दूसरी बार सामने आया।

प्रसिद्धिका तीसरा अवसर ज़रा देरसे पहुँचा—सन् १९४० में। गौरव

और महत्त्वमें यह सबसे आगे रहा। इसका यश भी इसी प्रान्तको मिला। गान्धीजीकी नज़रोंमें भारतीय जनता सामूहिक रूपमें सत्याग्रहके कठोरतर अनुशासनोंको पार करनेमें असमर्थ ठहरी! अतएव भारत सरकारकी युद्ध-नीतिका विरोध करनेके लिए उन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रहका विकल्प निश्चित किया। आचार्य विनोबा इस यज्ञके प्रथम होताके गौरवसे अभिषिक्त हुए!

एक ओर राजनीतिक प्रसिद्धिके क्षेत्रमें प्रथम आनेकी मची हुई स्पर्धाको देखिए। त्याग और क़ुरबानियोंका ढिंढोरा पीटते हुए, उसी पूजा-वेदीपर पाँव रखकर अपने ही साथियोंमें श्रेष्ठ दीखनेकी कोशिशोंका ताँता बँधा हुआ है। फिर इस व्यक्ति-विशेषकी समर्पण-भावनाको भी देखिए जो साधक जीवनके जाने किस आकर्षणसे अभिभूत, प्रसिद्धि और लोक-प्रतिष्ठाको आवर्जनकी तरह बार-बार ठुकराता आ रहा है।

बम्बई प्रान्तके कुलाबा ज़िलेके गागोडा गाँवकी भूमि गर्वीली है कि विनोबाका बचपन उसकी गोदमें खेलते बीता। तब श्री विनोबाका पूरा नाम था—श्री विनायक नरहरि भावे। विद्याभ्यासकी लोक-परम्पराके अनुसार सन् १९०७ में बड़ोदाके हाई स्कूलमें नाम लिखा गया, किन्तु विद्रोही जीवनका कँटीला मुकुट पहनानेके लिए राष्ट्रका भविष्य जिन विभूतियोंको वरण करता है, उन्हें शासनकी दीवारोंसे बँधी निर्जीव पाठशालाएँ पचा नहीं सकतीं। श्री विनायकने बिना कोई डिग्री लिये सन् १९१६ में ग़ुलाम शिक्षा-प्रणालीको छोड़ दिया। घर और पारिवारिक जीवनकी सीमाएँ, पश्चिमके आदर्शोंपर ढले भौतिक उद्योगोंसे देशको समृद्ध बनानेके पक्षपाती पिताका स्नेह, विलासोंसे रपटीले पथके सुखमय आकर्षण, साधारण मानवको ललचानेवाली महत्त्वाकांक्षाएँ, इन सब ज़ंजीरोंको तोड़ते जानेमें ही श्री विनायकने सुखका अनुभव किया। उन्हें उस शिक्षाकी तलाश थी, जिसके लिए कहा गया है—'सा विद्या या विमुक्तये।'

सबसे पहले विनायक, फिर उनके शेष दोनों भाई भी, लोक-साधनाके

महत्तर आदर्शोंकी प्राप्तिके लिए घर छोड़कर चल पड़े।

योग्य मार्ग-दर्शककी खोजमें, दीर्घ और मानसिक संघर्षोंके बाद श्री विनायक सन् १९१६ में काशी पहुँचे। महात्मा गान्धी साबरमती आश्रम स्थापित कर चुके थे। पत्र लिखकर आपने महात्माजीसे आश्रममें आनेकी अनुमति चाही, किन्तु प्रतीक्षा सहन नहीं हुई। बिना अनुमति प्राप्त किये, मेहमान नहीं, अतिथिके रूपमें, साबरमती पहुँच गये। महात्माजीने अपने आश्रमके प्रारम्भमें ही मानो इस छोटे-से सिद्ध विनायकका स्वागत किया। अपराजिता आर्यपरम्परा अपना नन्हा-सा रूप धरकर मानो सिद्धियोंका भण्डार महात्माजीकी साधनाकी गोदमें सौंपने आयी।

आश्रमवासी विनायकने आश्रममें कर्मठ और कठोर अनुशासनोंकी तपनसे गुज़रनेके लिए अपने मन और शरीरको उसी तरह फेंक दिया, जिस तरह प्राचीन ऋषि-पुत्रोंके, परिचर्या-भक्त, साधनामय जीवनकी कहानी हम उपनिषदोंमें पढ़ा करते हैं। श्री विनायकका यह आश्रमवास कितना श्रद्धामय, तपोनिष्ठ एवं अध्ययनशील रहा—वह इस प्रसंगसे व्यक्त होता है—दुर्बल, अस्वस्थ शरीर विनायककी कठोर श्रमशील, किन्तु शिकायतरहित चर्या और परिचर्यासे प्रभावित महात्माजीने एक दिन पूछा, "इतने दुबले हो रहे हो, फिर भी इतना सारा काम कैसे कर लेते हो?"

गिने-चुने शब्दोंमें अथाह गहराई लिये हुए उत्तर था, "काम करनेकी इच्छा-शक्तिसे।"

कैसे कहें कि इस शिष्यको अपने समस्त ज्ञानालोकसे उद्भासित कर देनेके सात्त्विक उछाहसे गान्धीजीका हृदय भर नहीं आया होगा!

इस तरह ज्योतिसे ज्वाला प्रज्वलित हुई और चिनगारीसे दीपदान-की परम्परा जागृत की गयी। श्रीविनायक विनोबा भावे बन गये।

मध्यप्रान्तमें गान्धीजीके मत, पथ और व्रतके एकनिष्ठ प्रचारमें अपना जीवन खपा देनेवाले स्वर्गीय देशभक्त जमनालालजी बजाजकी अनन्य सेवा-

भावनासे सन् १९२१में महात्माजी-द्वारा वर्धा आश्रमकी स्थापना की गयी। विनोबाजी इसके प्रधान आचार्य बनाकर साबरमतीसे वर्धा आश्रम लाये गये!

महात्माजीके निवाससे गौरवान्वित सेगाँव (वर्धा) जिस तरह सेवा-ग्राम बन गया, उसी तरह वर्धासे ५ मील दूरीपर अवस्थित पौनार ग्राम, जिसे हरिजन सेवाकी सुविधाके लिए विनोबाजीने चुना, विनोबाके चरण पड़ते ही परमधाम बन गया। मानो, अपनेको जीते-जी गाड़ देनेवाले आचार्य विनोबाने सन्त तुकारामकी वाणीको दोहराकर कहा,

*"आपुले मरण*
*पाहिले मी डोला"*

अर्थात् अपनी मौत मैंने अपनी आँखों देखी है।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी-द्वारा प्रज्वलित अभिनव ज्योति अपने अन्तःकरणमें आलोकित किये आचार्य विनोबा महात्माजीके महाप्रस्थान-के अनन्तर स्वतन्त्र भारतके हृदय-प्रदेशको द्वेष और कलुषसे निर्मल बनाने-का प्रयत्न कर रहे हैं। महात्मा गान्धीके अन्यतम साथी स्वर्गीय महादेव देसाईके शब्दोंमें, "ऋषिकी वाणी दोहरायी जाये तो विनोबाका जीवन उस मन्त्रको जीवन प्रदान कर रहा है, जिसमें कहा गया है,

*चरन्वै मधु विन्दती चरन्सदु सुदम्बरम्*
*..................चरैवेति, चरैवेति ॥"*

सन्त तुलसीदासने भगवान् रामके मुँहसे अनन्य भक्तकी परिभाषा यों कहलायी है,

*सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमन्त।*
*मैं सेवक, सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ॥*

और उस दिन, कुरुक्षेत्र छावनीमें विनोबाने शरणार्थियोंके बीच अपने आग-मनका उद्देश्य समझाया,

"आप लोगोंको ऐसे देखता हूँ, जैसे भक्त भगवान्‌को देखता है।"

विनोबाके शब्दकोषमें कमजोरी या लाचारीका बोध करानेवाला कोई शब्द नहीं। उनके विचारोंका ओज इन पंक्तियोंसे व्यक्त होता है, "चन्द्रके साथ चन्द्रका वातावरण रहता है, मंगलके साथ मंगलका। वैसे ही मेरे साथ मेरा वातावरण रहना चाहिए। लोग कहते हैं, यह तो कलियुग आया है, किन्तु कलियुगमें रहना है या सतयुगमें, यह तो तू अपना चुन ले। तेरा युग तेरे पास है। इसलिए हम ऐसा न मानें कि दुनियाकी हवाके सामने हम लाचार हैं। लाचार तो जड़ होता है। हम लोग चेतन हैं, आत्मस्वरूप हैं। हमारा वातावरण हम बनायेंगे।"

शरीर-श्रमको आज भी विनोबा बहुत महत्त्व देते हैं। उस दिन दिल्लीके राजघाटपर प्रार्थना-सभामें उन्होंने कहा, "शरीर-श्रम छोड़नेसे ही दुनियामें साम्राज्यशाही और अन्य शाहियाँ पैदा हुई हैं।"

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धीके इस सुयोग्य प्रकाश-वाहक और उत्तराधिकारी, सन्त एवं लोक-नेताका इन पंक्तियोंके साथ, सेवाके व्यापक क्षेत्रमें हम स्वागत एवं अभिनन्दन करते हैं,

"नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।"

# प्रेमचन्द चले गये !

हिन्दी-जगत्‌की कहानीको भारतीय साहित्यकी कहानी वना देनेवाला कहानी-लेखक स्वयं कहानी हो गया ! उसकी जीवन-घटनाओंको अव हम अंगुलीके पोरोंपर गिनने मात्रके अधिकारी रह गये हैं। उसकी जिस ज़बानपर शत-शत मस्तक डोल उठते थे, वह ज़वान शत-शत ज़वानोंसे दोहरानेकी चीज़ हो गयी। वह मानव-संस्कृतिका चरित्र लिखता था और हम उसका चरित्र लिखने वैठ गये। जहाँ उसकी क़लम खिलवाड़ करती थी, और उसकी एक-एक साँस और उसाँसको अपनी आँखोंसे कलेजेपर झेल-झेलकर हृदयके भावना-कोषमें हम मौनका ताला लगाकर वन्द रख छोड़ते थे आज हम वह सारा खज़ाना वाहर निकालनेको तैयार हैं। मगर वह आदमी ही हमारे पास नहीं है जिसका वह खजाना है। उसके सारे साहित्य-को लेकर, हम लूटके मालकी गठरी वाँधे हुए डाकूकी तरह साहित्यके चौराहेपर खड़े हैं और वस्तुका मालिक लापता है। हम चाहते हैं उस वक़्त कोई हमें यह कहकर रास्तेसे गुज़र जाने दे कि हम निर्दोष हैं, हम उस मालके हक़दार हैं।

धर्मशास्त्र हमें अपनी संस्कृति और सभ्यताका अरक़ प्रदान किया करता है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रोंका वोझ लादे हुए भी समाज धर्मशास्त्रोंको कभी-कभी छूता-सा भले ही नज़र आये परन्तु अधिकतर धर्मशास्त्रोंसे घवड़ाता-सा और दूर जाता-सा दीख पड़ता है। यह सच है कि हमारे जीवनपर नीतिके कुछ नियमों, कलाके कुछ संस्कारों, धर्मके कुछ तत्त्वों, इतिहासके कुछ अध्ययनों और विज्ञानकी कुछ ज़रूरतोंकी छाप पड़ी है। और जीवनके लोह-दण्डपर शास्त्रीयतासे जीवन और जीवनसे शास्त्रीयता जुदी नहीं की जा सकती। छापें जीवनके अन्दर प्रवेश नहीं कर पातीं,

जीवनके ऊपर ही ठोकर मारकर रह जाती हैं, और ठण्डे लोह-दण्डपर तो ये ऊपर ठोकर मारनेमें भी असहाय और असमर्थ होती हैं, किन्तु जब जीवनके लोह-दण्डको जगत्के उत्थान और पतनकी कहानी अपने तीव्र तापसे नरमा देती है, तब शास्त्रीयता सरलतासे अपनी नियामकताके ठप्पे लगा जाया करती है। मुन्शी प्रेमचन्दके अभावमें हिन्दी-जगत्के जीवन-की तेज-निर्माणकी वेदी ठण्डी पड़ गयी।

दुर्भाग्य कि हिन्दी साहित्यमें कविता, धर्मशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, उपदेश, नीति सब कुछ आया और कहानी आयी बहुत देरके पश्चात्। मानो साहित्यके विकास-वृक्षकी यह कली थी, जिसे जड़, पिण्ड, डालियों, तनों और पत्तोंके बाद ही आना था। नैतिकताके लेखकके रूपमें हमने स्कूल-मास्टर पाये, इतिहास-लेखकोंके रूपमें मृत जीवनोंके संग्राहक, कवियों-के रूपमें वेदनाओं और बेचैनियोंके हृदय-धन, किन्तु एक कहानी-लेखकके रूपमें हम सम्पूर्ण मानव-रहस्यका उद्घाटनकर्ता पाते हैं। जैसे विधाताके सम्पूर्ण जंगल कृत्रिम बग़ीचोंमें लगाये और उगाये नहीं जा सकते, वैसे ही वे सम्पूर्ण बातें साहित्यके किसी दायरेके द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकतीं, जिन्हें कहानी और उपन्यास-लेखक व्यक्त किया करता है। कम-पढ़े आदमीके पास शास्त्र घबड़ाता है, रसहीनोंके पास कविता मूर्च्छित हो जाती है, और शास्त्रज्ञतासे बोझिल व्यक्तिके पास लोक-जीवन और लोक-साहित्य यानी कहानियाँ घबड़ा उठती हैं। किन्तु जो व्यक्ति लोक-साहित्य-को हिन्दी-जगत्की ऊँची और नीची सब जगहों तक समान फैला सका; उगनेवाले सूरजकी किरणोंकी तरह, बरसनेवाले पानीकी तरह ऊँची और नीची, पवित्र और अपवित्र, विद्वान् और कम-पढ़ी सब ज़मीनोंपर एक-सा साहित्य पहुँचा सका, उसे हिन्दी-संसारमें प्रेमचन्द कहकर स्मरण किया जाता है। किसी प्राइमरी शालाकी ग्राम-लाएब्रेरीमें, किसी गाँवके कम पढ़े-लिखे किसान, पटवारी या मालगुज़ारके पास, किसी शहरके पढ़े-लिखे लड़कोंमें, अध्यापकोंमें, कचहरीके बाबुओंमें, रेलके नौकरोंमें, डॉक्टरोंमें,

प्रोफ़ेसरोंमें, इंजीनियरोंमें, साहित्यिकोंमें, कलाकारोंमें, कवियोंमें यदि किसी व्यक्तिका साहित्य एक-सा विद्यमान है तो वह है केवल प्रेमचन्द और उनके साथियोंका साहित्य।

पाठक जब समाचारपत्रोंको पढ़ते हैं तो वे पत्रोंपर कृपा करते हैं, जब अन्य प्रकारके ग्रन्थोंको पढ़ते हैं, तो वे ग्रन्थोंपर कृपा करते हैं, किन्तु प्रेमचन्दको पढ़नेवाला साहित्यपर एहसान करनेके लिए साहित्य नहीं पढ़ता; प्रेमचन्दका साहित्य ही एहसान बनकर उसके पास जाता है। यदि ग़रीबोंका संगठन धनिकता और निरंकुशताके खिलाफ़ ग़दर है तो कहानियों और उपन्यासोंके युगको रूखी शास्त्रीयताके खिलाफ़ ग़दर ही कहना चाहिए। जिस तरह भक्तोंने ऋषियोंके विष्णुका लक्ष्मीके साथ क्षीर-सागरका विहार छुड़वाकर, नामदेवकी कुटिया छाने और भक्तोंके साथ मज़दूरी करनेके लिए बाध्य किया और इस तरह सदाके लिए जल-समाधि लेते हुए विष्णुको अपने साथ खेलने-कूदनेका अवसर देकर जीवन-दान दिया; उसी तरह शास्त्रीयताके रूपमें बहुत थोड़ोंकी चीज़ बन जाने और समाजके जीवनसे अधिकाधिक दूर जानेवाले हिन्दी साहित्यको प्रेमचन्द और उनके साथियोंकी युग-निर्माणकारिणी लेखनीने नया बचपन प्रदान किया।

ये पंक्तियां उपन्यास या कहानियोंके साहित्यकी प्रभुता बखान करनेके लिए नहीं, कहना यह है कि प्रेमचन्द्रको खोकर हमने वह खो दिया, जो हिन्दी-जगत्‌में किसीको भी खोकर नहीं खोया। यह वेदना उस समय बीसगुनी हो जाती है जब सोचते हैं कि हिन्दी-भाषियोंकी गिरोह-बन्दीमें प्रेमचन्दको उपेक्षित मर जाना पड़ा। हिन्दी-जनताने जिस व्यक्तिके साहित्यसे अत्यधिक समरस होनेमें अपना गौरव समझा वही व्यक्ति हिन्दी-साहित्यके क्षेत्रमें आदर और पूजाकी वस्तु नहीं बन पाया।

श्री प्रेमचन्दजीसे मैं कई बार मिला और चर्चा की। सन् १९३३में श्रीयुत बनारसीदासजीके अत्यधिक आग्रहसे काशीमें उनके सरस्वती प्रेसमें

उनसे मिला। ५ अप्रैल सन् १९३५को बम्बईसे बनारस लौटते हुए वे खण्डवा पधारे। इसके बाद ३० अक्टूबर सन् १९३४ को कुछ तरुण मित्रोंके साथ बम्बईमें उनके दादरवाले निवास-स्थानपर भेंट हुई। बनारस-की चर्चामें मैंने कहानी और उपन्यासोंके सम्बन्धमें प्रेमचन्दजीकी धारणा जाननेकी कोशिश की। बम्बईमें कलापर उनके विचार जाने और उनकी रचनाके प्रेरक-बिन्दुओंकी चर्चा की। खण्डवामें उन्हींके साहित्यपर उनके साथ समरस होनेके यत्न किये और कुछ कड़वी-मीठी चर्चा हुई। उसके बाद वे प्रयागकी अकादेमीमें जनवरी सन् १९३६ के दूसरे सप्ताहमें और नागपुरके सम्मेलनमें अप्रैलके तीसरे सप्ताहमें मिले। उस समय मैंने देखा, वे नन्हें बच्चोंसे अधिक सरल और मज़दूरसे अधिक परिश्रमी, किसी बापके बिगड़ैल बेटेसे अधिक अपने स्वास्थ्य, अपने स्वार्थ और अपनी कीर्तिके प्रति लापरवाह और अपनी कठिनाइयों, अपनी रचना और सरलताको ही अपने जीवनका उपहार समझकर मातृभूमिके मस्तिष्कवानोंके बीच भाषा-के तंग दायरेमें होनेवाले मत-भेदोंको मिटाकर सम्पूर्ण भारतको संयुक्त, साहित्य-सम्पन्न, और सम्पन्न देखनेवाले चिन्तकोंमें-से एक थे। बम्बईकी चर्चामें मैंने पाया कि प्रेमचन्दजी उस वृक्षके समान हैं जिसमें अपने अमृत-तुल्य मीठे फल देनेकी बेइख़्तियार शक्ति मौजूद है और जो अपने ऊपर उछलनेवाले कीचड़को ही अपना खाद्य मानकर वुद्धिके विधाताके आँगनमें बैठकर जाने-अनजाने सुन्दरसे-सुन्दर फलोंका निर्माण किया करता है। जो मदान्धों-द्वारा तोड़ी जानेवाली अपनी डालियोंको मौसमका क़लम करना समझकर उसे भगवान्का वरदान मानता है और जो आस-पास अपकीर्तिके काँटे बिखेरे जानेपर समझता है कि चलो, अच्छा हुआ; इन काँटोंको लाँघकर मेरे पास अब भीड़-भाड़ कम होगी। ग्रामीण और ग़रीब तो उबाहने पैर भी काँटोंमें रहनेके आदी हैं; वे तो मेरे पास तक पूजा ग्रहण करने आ ही पहुँचेंगे। जो लोगोंकी उड़ायी हुई अपकीर्तिके मापपर व्यक्तिके गम्भीर और एकान्त जीवनका मूल्य कूता करते हैं वे कृत्रिम

जीवनके लोग मुझे कम सतायेंगे। इस भावनासे वे अपनेको अपकीर्तिमें सुरक्षित मानते।

कलाके सम्बन्धमें मेरा उनका थोड़ा मतभेद रहा। उनका विचार था कि व्यक्तिका जीवन समाजका प्रतिनिधि है और समाजकी गति-विधि-का संकेत करता है और मेरा खयाल था कि जब जनतारूपी समुद्रने मिल-कर लहरोंका ज्वार बनाना छोड़ दिया हो, तब समुद्रकी लहरोंका टूटकर जल-बिन्दुओंमें बँट जाना और केवल उन्हीं बिन्दुओंका चित्रण सम्पूर्ण समुद्रकी, उसके ज्वारकी, विरोधियोंको निगलनेके उसके सामर्थ्यकी, उसके अपने गाम्भीर्यकी, हृदयमें बनने और निवास करनेवाली रत्न-राशिकी याद नहीं दिला सकती।

प्रेमचन्दजीने जो किया, इतना अधिक किया कि वह अपने युगकी जनताके लेखक और कवियोंको भी प्रतिभा और आकलनकी वाचा फोड़नेके लिए बहुत काफ़ी था। लेखनमें जितने उपकरण उन्होंने जमाये सब सामाजिक आदर्शोंको लेकर। उन्होंने धनिक और निरंकुश उपकरणके रूपमें व्यक्तिवादको यदि बलवान् नहीं बनने दिया तो ग़रीबोंके व्यक्तिवाद-की हिन्दी-साहित्यमें नींव अवश्य डाली। यदि उनकी रचना युरोपमें प्रकाशित होती तो सिद्धान्तोंके संघर्षणकी एक ज्वाला जगाती जो प्रेमचन्द-को अपने समकालीन लेखकोंमें ऊँचीसे-ऊँची सतहपर ले जाती; किन्तु दुःख यही है कि हिन्दी-संसारमें प्रेमचन्दके चिन्तनका आकलन प्रेमचन्दजीकी चोरियाँ और कमज़ोरियाँ ढूँढ़नेके प्रदर्शन तक ही जा पाया।

अपनी प्रतिभाकी पहुँच और आदर्श-चिन्तनके अभावमें अपनी कमज़ोरीको साहित्यमें अधिकाधिक बेच ले जानेके लालची लेखक दो पथोंका अनुकरण किया करते हैं। या तो वे अपनी भाषा जोशीली रखेंगे या ऐसी हँसोड़ अथवा घिनौनी शृंगारमयी कि विवेक और निश्चयमें, अपरिपक्व तरुणाईमें, वह साहित्य खूब चल निकले। प्रेमचन्दजीकी जिन रचनाओंको मैंने पढ़ा है उनमें इस लालचका कहीं चिह्न नहीं। उनकी

रचनामें धनिकताका गुणगान, उसका बल-संवर्धन नहीं है। चाहे वह धनिकता महलोंके होते हुए भले ही ज़मीनपर बैठने लगे, मोटरोंके होते हुए भले ही पैदल चलने लगे, पकवानोंके होते हुए भले ही नमकके साथ सूखी रोटी खाने लगे। ग़रीबोंमें दिशा-भ्रम करनेवाले ऐसे उपकरणोंका प्रेमचन्दजीने उपयोग नहीं किया। कीर्तिकी धनिकताकी प्रशंसा भी प्रेमचन्दकी लेखनीमें नहीं पायी जाती। जातिगत, पेशेगत, विद्यागत, सेवागत, कीर्तिकी समस्त धनिकताके मोहजालसे बचनेमें प्रेमचन्दजीकी लेखनीको हम चौकन्ना पाते हैं। इसीलिए नेतृत्व और धनिकता दोनोंका ही भारी समर्थन प्रेमचन्दजीके साहित्यमें नहीं मिलता। आदर्श-पूजक क्रान्तिवादिताके दर्शन प्रेमचन्दमें वहाँ होते हैं जहाँ वे रूढ़ियोंकी सर्वनाशक विषमताका या तो चित्रण करते हैं या रूढ़ियोंके विद्रोहके लिए अपने पात्रोंमें प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। प्रेमचन्दजीके पात्र समृद्ध होनेका यत्न करते नहीं देखे जाते, सामनेकी विषम परिस्थितिसे मुक्त होनेका यत्न करते ही देखे जाते हैं। प्रेमचन्दजीने अपने पात्रोंका चित्रण ऐसा किया है कि ग्रामीण जीवनके वर्णनमें उनकी क़लम जीभ बन जाया करती है।

सच्चा कलाकार मरकर भी नहीं मरता। जो लोग अपने आराधना-बिन्दुसे रक्षा और सहायता माँगते हैं, वे सदैव कमज़ोर होते हैं; परन्तु जो प्रेरणा माँगते हैं वे स्वयं भी जीवित रहते हैं और अपने आराधना-बिन्दुको भी युगों तक जीवित रखते हैं। प्रेमचन्द, मुक्त-हास्य-प्रेमचन्द, सहायक प्रेमचन्द, मित्र प्रेमचन्द, विनोदी प्रेमचन्द, मानव मिठासकी गुदगुदी प्रेमचन्द, अपने साथी और स्नेहीकी बलवान् भुजा प्रेमचन्द, उपन्यास पढ़नेवाली जमाअतको भोजन देनेवाले प्रेमचन्द, चले गये! आँख मूँदनेपर प्रतिक्षण दीख पड़नेवाले प्रेमचन्द, खुली आँखों देखनेकी चीज़ नहीं रहे। प्रेमचन्दजीके दर्शन अब कलाकी पूजक केवल शिवरानी देवीजी और उनके द्वारा कही जानेवाली स्मृतियोंमें पा सकेंगे। किन्तु जो अमर वस्तु प्रेमचन्दजीके पास थी वह तो प्रेमचन्द अभी भी देनेमें समर्थ हैं। यदि

प्रभुको खोकर भक्त प्रभु-वियोगको परम सत्य माननेके लिए तैयार नहीं होता तो प्रेमचन्द-जैसे कलाकारको खोकर हम उसके वियोगको सत्य माननेको कैसे तैयार हो सकते हैं ? जो गोर्की, हार्डी, रोलाँ और न जाने किस-किसकी पूजा करते हैं वे विश्व-साहित्यको सामने रखकर एक बार प्रेमचन्दके साहित्यको फिर देखें। हमारे नम्र विचारसे, वे देखेंगे कि प्रेमचन्द गणितके अंकों-जैसी स्पष्ट जागृत और ज्वालामय वह वस्तु हिन्दी-जगत् और हिन्दी-जगत्के बाहरकी पीढ़ियोंको भी दे सकते हैं जिसे प्रेरणा कहते हैं। यह प्रेरणा बलवान् और अमर क्रान्तिकारिणी रहे, यही प्रभुसे हमारी एकान्त प्रार्थना है।

## परिडत रविशंकर शुक्ल

प्रजा-सत्तामें वाहुवलकी अपेक्षा वहुबलका प्रतिनिधित्व रहता है, और इस तरहसे पण्डित रविशंकर शुक्ल मध्यप्रान्तके वहुवल--बहुमतके प्रतिनिधि थे। निस्सन्देह यह परम गौरवकी बात है, किन्तु चिन्तनकी आँखोंके सामने अठहत्तर वर्षके शुक्लजी इसलिए जन-जीवनमें आगे थे कि वे परिस्थिति, देशकी आवश्यकता और अपनी क्षमताके आर-पार देखनेमें अपनी शक्ति रखते थे।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके उपद्रवको आधार नहीं चाहिए, वे लोग अपनी अवस्था ऐसी वनाये हुए हैं कि अपनी सारी गड़बड़ोंसे, गड़वड़ों-के परिणामस्वरूप, जिनके पास खानेके लिए कुछ नहीं है, केवल गड़वड़से जो पा जायें वही उनके लिए लाभ है। एक समय कमज़ोर विश्वासके लिए भयभीत होनेका यह होता है।

दूसरे वे होते हैं जिन्हें केवल परिवर्तन चाहिए। परिवर्तनकी अच्छाई-बुराई-द्वारा निश्चित भविष्यका जिनके पास कोई ज्ञान नहीं, वे तो परिवर्तन करके मानेंगे। तुलसीदासके बताये वर्ण, अर्थसंघ, रस, छन्द, अर्थात् अक्षर अथवा समूह, ग्रन्थ, जाति-संगम, साहित्यके नवरस अथवा जगत्के पाँच रस और अर्थको अपनेमें छुपाकर वैठनेवाला साहित्य, अर्थको अपनेमें छुपाकर बैठनेवाली कविता अथवा इरादोंको अपनेमें छुपाकर बैठनेवाली विश्वकी नृप-नीति, तुलसीदासकी धारणासे इन सबका कार्य मंगल करना होना आवश्यक है। कुछ तो प्रारम्भसे मंगल-कार्य होना चाहिए, कुछको मंगल-कार्योंकी गौरव-वृद्धि करना चाहिए और शेषको मंगल-परिणामोंकी जननी होना चाहिए। किन्तु परिवर्तन करनेके हठी पागलको समाजके मंगल-अमंगलसे कुछ लेना-देना नहीं है। वह तो किसी भी

मूल्यपर वर्तमानमें परिवर्तन चाहता है, भले ही भाग्यवशात् उससे मंगल हो जाये, भले ही वह चिर-अमंगलका कारण बने।

तीसरे वे होते हैं जो भावनारहित योजनाके पक्षपाती होते हैं। यद्यपि बड़ीसे-बड़ी देशव्यापी और विश्वव्यापी योजनाको अपनी सफलताके लिए जन-जीवनके सम्मुख बार-बार घुटने टेकने पड़ते हैं, और जन-जीवनके सद्भावोंको जागरण देना होता है; किन्तु बाहरसे योजनाकी आदत उधार लेनेवाला आदमी, योजनाका बीमार है। राष्ट्रनायक जवाहर-लालजीकी कोमलताकी उपेक्षा कर योजनाके बीमार अपनी नन्हीं-नन्हीं योजनाओंको ही सब कुछ समझते हैं, वे ईमानकी निर्मलता और भावनाकी समर्पण-शीलताको भूल जाते हैं।

चौथे वे होते हैं जिन्हें शहीद बनने या शहीद होनेमें मज़ा आता है। रावणके खिलाफ़ रामका झण्डा उठे तो वे शहीदोंमें नाम लिखा लेंगे, और यदि रामके खिलाफ़ रावणका झण्डा खड़ा हो तो उन्हें रावणकी सेनामें भी पा सकेंगे। न वे रामके हैं, न रावणके; वे तो अपनी शहीद होनेकी प्रवृत्तिके प्रति ही ईमानदार हैं, जिस तरह राजनीतिक गाली-गलौज करनेवाली क़लम, यदि राज अथवा राष्ट्रमें गाली-गलौजकी जगह न मिले, तो विश्वकी घटनाओंकी गाली-गलौजमें हिस्सा बँटाने लगती है, उसी प्रकार शहीदाना तन्तुओंसे भरा हुआ, विधायकतासे रहित व्यक्ति, अपनी शहीदप्रवृत्तिके लिए देश, काल और पात्रकी उपयुक्तता-अनुपयुक्तताके लिए नहीं ठहरता।

पाँचवें वे लोग हैं जो कभी भी कोई निश्चित निर्णय नहीं कर पाते। उनके लिए यदि रूसके प्रधानमन्त्री बुलगानिन कहते हैं तो ठीक कहते हैं। अमेरिकन राष्ट्रपति आइसनहॉवर कहते हैं तो वे भी ठीक कहते हैं और पण्डित जवाहरलाल नेहरू कहते हैं तो वह भी 'हाँ ठीक ही तो कहते हैं'। इस अनिश्चित वृत्तिके लोगोंकी संख्या किसी भी देशके किसी भी समाजमें कम नहीं हुआ करती। अतः इनके समर्थन या विरोधके मूल्यपर

कार्य करना कठिन होता हैं।

छठे वे व्यक्ति होते हैं जो परम आज्ञाकारी हैं। उनकी दृष्टिमें जीता हुआ डाकू भगवान्का अवतार है और हारा हुआ अवतार डाकूसे भी भयंकर अपराधी। ये यह जहमत लेते ही नहीं कि इसकी भलाई या उसकी बुराई अथवा इसका सम्मान और उसका खतरा अपने सिरपर ले बैठें, अतः ये निरीह सब अवस्थाओंमें खप जाते हैं। इनके विश्वासके बलपर राष्ट्र-संचालन नहीं होता।

सातवें वे होते है जिन्हें केवल क्रान्ति चाहिए। क्रान्ति वह नहीं जो विश्व-रचनाके एक हिस्सेकी अपेक्षा दूसरेको उन्नततर बनानेमें लग जाये। इनके लिए तो वही क्रान्ति है जो स्थापित व्यवस्थाके हर कील-काँटेको उखाड़कर फेंक दे। इनका धन्धा है, इनका प्रथम कार्य है कि इसको गिरा, उसको नष्ट कर, उस होते हुए कामको बन्द कर और अमुक समाज-रचना-में लकवा उत्पन्न कर। क्योंकि जन-जीवनका असन्तोष इनका मूलधन होता है, और उस असन्तोषको उत्पन्न कर चुकनेके पश्चात् इन्हें समाज या देशसे कुछ लेना-देना नहीं हैं। विरोधके गरम तवेपर इन्हें तो अपनी रोटियाँ सेकनी हैं।

ये सात अवस्थाएँ तथा ऐसी ही कुछ अवस्थाएँ और हैं। कुछ ऐसे क्षण होते हैं जब समाज-व्यवस्थाका ईमान डावाँडोल होने लगता है। कभी-कभी कार्य-संचालकको अपने कार्यमें भय, घबड़ाहट और चिन्ता होने लगती है। समाजके व्यवस्थापक भयभीत, भीरु और क्षीणमना होने लगते हैं। जब संकट साम्प्रदायिक, धार्मिक अथवा विशुद्ध स्वार्थका विपरीत रूप धारण करके आते हैं, तब समाजके प्रजासत्ताके नियमन करनेवाले तकको यह भय होने लगता है कि वे ज़हरके इन कड़वे प्यालोंको पीनेमें असमर्थ हैं। सच तो यह है कि कठिनाइयाँ वहीं विजयिनी होती हैं जहाँ समूह, समाज अथवा व्यक्तिका विश्वास कमज़ोर पड़ जाता है। ऐसे समयके लिए हमें उस कार्यकर्ताकी आवश्यकता होती है जिसके लिए कहा

गया है,

> नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके,
> जनपदहितकर्त्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः।
> इति महति विरोधे विद्यमाने समाने,
> नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्त्ता ॥

ऐसा ही कार्यकर्ता समाजके हितको अपने हितसे ऊपर रख सकता है। मैं यह कह सकता हूँ कि विरोध अथवा समर्थनकी भूमिका ले चुकनेके पश्चात् पण्डित रविशंकरजी शुक्लको उल्लिखित सामाजिक विकृतियोंके बीच मैंने कभी डावांडोल नहीं देखा। मुझे तो यह चिन्ता है कि समर्थन और विरोधके वीचो-वीच इस निर्भयतासे खड़े रहनेवाले व्यक्तियोंको मैं अपने बीच इस राज्यमें 'वहुत कम' पा रहा हूँ जो भाई शुक्लजीकी-सी क्षमता व्यक्त कर सकें। कारलाइलके कथनानुसार यदि हम जीवनको ऐसा अवसर मान लें जो दूसरी वार नहीं मिलेगा, तो हममें-से कितने हैं जो गुण, स्वभाव, वस्तुओंको समझनेकी शक्ति और उच्च रुचिके मापपर यह कह सकें कि हमारा जीवन समय-वृक्षके सूखे हुए पत्तोंकी ढेरी नहीं; किन्तु यथार्थमें साँस लेता हुआ प्राणवान् और परम पुरुषार्थमय अस्तित्व है। नन्हें वच्चोंकी तरह यह कहना कि प्राप्त अवसर केवल दुःख है अथवा सुख है, अधूरा है। भले ही ऐसी वात कहते समय हम वेदान्तकी दुहाई देते हों। किन्तु यह है हमारा निरा पागलपन ही। सुख और दुःख तो उत्तर-दायित्व निवाहते समय व्यक्त की जानेवाली हमारी क्षमता अथवा क्षमता-हीनताके नाम हैं। हम भारतीय लोग, दार्शनिक दृष्टिकोणसे मुक्त नहीं हो सकते। हम अपने कार्योंमें, अपने विश्वासोंको अन्तरात्माकी लगन और आराधनाके वीचमें जब व्यक्त करते हैं तब हम अपनी कृतिको अपने अन्तःकरण और घरसे वाहर भेजते हुए सन्तोषका अनुभव करते हैं। मैं इस वातसे सदा सुखी हुआ हूँ कि पण्डित रविशंकर शुक्लमें भगवान्के प्रति अटूट विश्वास है और अपने कार्य-कौशलके प्रति अमित श्रद्धा। वे अधीर

नहीं होते, भयभीत नहीं होते; डावाँडोल होते भी प्रायः नहीं देखे जाते।

मेरा परिचय पण्डित रविशंकर शुक्लसे सन् १९१६में हुआ। तब वे अड़तीस वर्षके थे। ऐसे कितने ही क्षण आये हैं, जब मैं समस्याओंको रविशंकरजीकी दृष्टिसे नहीं देख सका अथवा वे समस्याओंको मेरी दृष्टिसे नहीं देख पाये, किन्तु मैंने उनमें ऐसा पारिवारिक व्यक्तित्व पाया जिससे लड़कर भी जिसके हाथोंमें मनुष्य अपनेको अत्यन्त निश्चिन्ततासे सौंप सकता है।

कदाचित् बहुत कम लोग यह जानते हैं कि मध्य प्रदेशके हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके जन्मदाता पण्डित रविशंकर शुक्ल और उनके तत्कालीन साथी ही हैं। पहला सम्मेलन जहाँ तक मुझे याद है सन् १९१६-१७ में रायपुरमें ही हुआ था, जिसके अध्यक्ष स्वर्गीय पण्डित प्यारेलाल मिश्र, बार. एट ला. हुए थे। पण्डित रविशंकरजीमें दो विरोधी भावनाओंका विचित्र सामंजस्य था। वे सोचते बहुत ठण्डे; इतने ठण्डे कि लगभग पन्द्रह वर्षों तक मैं उन्हें उग्र राष्ट्रीय दलका आदमी ही नहीं मानता था। सन् १९२० की सागरमें होनेवाली प्रान्तीय राजनीतिक परिषद्के समय जिनके अध्यक्ष स्वर्गीय डॉक्टर मुंजे थे; मैंने अपने दो प्राणप्रिय मित्रोंको अर्थात् पण्डित रविशंकरजी शुक्ल और स्वर्गीय पण्डित मनोहरकृष्ण गोलवलकरको 'कर्मवीर' के अग्रलेखोंमें नरम दलका लिखा था। उन अग्रलेखोंको पढ़कर पूज्य पण्डित माधवरावजी सप्रेने मुझसे कहा था, "रविशंकरजीके विषयमें तुम्हें अपना मत बदलना पड़ेगा।"

हाँ, तो मैं कह रहा था कि रविशंकरजीमें विचारोंकी ठण्डक बहुत थी, किन्तु दूसरी ओर सिपाहीकी बहादुरी भी उनकी ऐसी अद्भुत कि ब्रिटिश सरकारसे लोहा लेते समय जिन्होंने उन्हें अटल और अडिग देखा तथा राजनीतिक परिषदोंके समय और रायपुरमें भी उन्हें तरुणोंकी सेनाका संगठन करते हुए देखा वे उनकी सिपहगिरीका गुणगान किये बिना नहीं रह सकते।

शुक्लजी गृह-जीवनमें अत्यन्त पारिवारिक हैं। एक वार पण्डित बलदेवप्रसादजी मिश्रके आमन्त्रणपर रायगढ़ जा रहा था। मार्गमें शुक्लजी-के पास रायपुर ठहरा। उन दिनों उनकी माताजी बीमार थीं। मैं भी उन्हें देखने ऊपरके कमरेमें गया। उस समय माँ जितने कड़े शब्दोंमें अपने इक-लौते पुत्रकी खवर ले रही थीं और पुत्र जिस श्रद्धा और स्नेहसे खिल-खिला-कर माँकी नाराज़ीको शान्त करनेमें व्यस्त था, उसे देखकर मेरा हृदय गद्‌गद हो गया।

मित्र चाहे कोई स्वर्गीय हों या आज कलके कोई और, जो भी शुक्लजी-के विश्वासका हो जाता, शुक्लजीकी इस निर्मलताके कारण वह उनपर अतिरेकमय रूपसे छानेकी कोशिश करता। किन्तु यह सब थोड़े ही दिनोंके लिए हो पाता। जब शुक्लजीका निर्मल और कोमल व्यक्तित्व शीघ्र ही उभर उठता तब लोग उनकी निर्मलतासे प्रभावित हुए विना नहीं रहते। हिन्दी और मराठीको इस प्रान्तमें समान स्थान दिये जानेके लिए शुक्लजीने विश्वासोंकी जिस निर्मलताको व्यक्त किया उस भावनासे इस राज्यकी बड़ी-से-बड़ी समस्याओंको सुलझाया जा सकता है। जब गान्धीजीने यरवदा जेल-के अपने महान् उपवासके पश्चात् हरिजन-आन्दोलनको उठाया तो मध्य प्रदेशमें उन्होंने पण्डित रविशंकरजीको अपने साथ लिया और लोग जानते हैं कि उसका कितना सुन्दर परिणाम हुआ।

जब सन् १९२३ में नागपुरमें झण्डा-सत्याग्रह हुआ तब शुक्लजी स्वराज्य पार्टीमें थे। स्वराज्य पार्टी झण्डा-सत्याग्रहका समर्थन नहीं कर रही थी। नागपुरके स्वराज्य दलके मित्रोंने तो उसका कितनी ही वार खुला विरोध किया, किन्तु विदेशी ताक़तसे लड़े जानेवाले किसी भी आन्दो-लनमें शुक्लजी विरोधी हो सकें यह बात सम्भव नहीं थी। ऐसे समय शुक्लजी पहले 'ईमानदार राष्ट्रीय' रहे हैं और फिर कुछ और। मैं झण्डा-सत्याग्रहके संचालकके नाते जब रायपुर गया तब शुक्लजीके ही भवनमें बैठकर नागपुरके झण्डा-सत्याग्रहमें जानेवाले स्वयंसेवकोंका संगठन किया

और शुक्लजीकी ही मोटर लेकर ज़िलेमें जहाँ-तहाँ भ्रमण किया। जब खादी-आन्दोलन लेकर प्रान्तव्यापी संगठन किया गया और स्वर्गीय भाई गणपतरावजी टिकेकरके साथ मैं रायपुर गया तब शुक्लजीका व्यक्तित्व, रायपुरका राष्ट्रीय स्कूल और रायपुरके नागरिक ऐसे अद्भुत ढंगसे काममें लग गये कि खादीकी सबसे अधिक बिक्री महाकौशलमें उस समय रायपुरमें हुई। उस ज़मानेकी अर्धसरकारी संस्थाओंको सरकारके हाथमें-से व्यवहारतः छीनकर सर्वथा राष्ट्रीय बना लेनेकी क्षमता उस समय पण्डित रविशंकरजी-में ही देखी गयी। उन्होंने डिस्ट्रिक्ट कौन्सिलके अध्यापकों और कर्मचारियों-को मानो स्वराज्यकी सेनामें काम करनेवाले सेवक ही बना डाला था।

पण्डित रविशंकरजी शुक्लकी भुजाओंपर नर्मदाकी निर्मलता, ताप्तीका अखण्ड सौन्दर्य और महानदीकी गौरव-गरिमा शोभित रही। कपास, ज्वार और गेहूँके लहलहाते पौधे उनकी भुजाके संरक्षणपर गर्व कर सके। हमारी खदानें, हमारे जन-जीवनके नर-नारी उस बूढ़े तरुणके अन्तःकरणमें अपने विश्वासोंको संजोकर रखते रहे।

# सेवाग्रामकी विभूति : मश्रूवाला

सत्य और अहिंसाके पथपर आचरणका बल लेकर चलनेवालोंमें-से एक तीर्थ-यात्री और हमारे बीचसे उठ गया। सेवाग्रामकी विभूतियोंका यह वियोग हमारे सम्मुख क्रमागत-सा हो गया है। साधुमना जमनालालजी बजाज, श्री महादेव भाई देसाई, माता कस्तूरबा, महात्मा गान्धी और भाई श्री किशोरलाल मश्रूवाला, इस तरह सन् ४२ से लेकर सन् १९५२ तक हमने सेवाग्रामकी पाँच विभूतियाँ खोयीं और सेवाग्रामकी अन्तरंगको इन पाँच विभूतियोंके सिवा सेवाग्रामके वहिरंगकी एक महान् विभूति सरदार वल्लभभाई पटेलको हमने खोया। किसी राष्ट्रके जीवनकी हानि-लाभकी भाषामें हमारी ये हानियाँ अत्यन्त भयंकर हैं।

महात्मा गान्धीने मश्रूवालाजीका परिचय इन शब्दोंमें दिया था, "किशोरलाल हमारे दुर्लभ कर्मशीलोंमें-से एक हैं। न थकनेवाले वे अपनी भूलोंके प्रति बड़े सजग हैं। जाति, समाज, और प्रान्तीयताके अभिमानसे मुक्त वे स्वतन्त्र विचारक हैं। वे राजनीतिज्ञ नहीं किन्तु जन्मसे सुधारवादी हैं। वे समस्त धर्मोंके जिज्ञासु हैं। जन्मना अहंभावसे वे सर्वथा मुक्त हैं। प्रकाशन, प्रशंसा और उत्तरदायित्व लेनेसे सदा बचनेवाले; किन्तु ऐसा कोई दूसरा आदमी मुश्किलसे मिलेगा जो उत्तरदायित्व ले लेनेके पश्चात् उसे वैसा निबाहता हो, जैसा मश्रूवाला निबाहते हैं।" 'पत्रिका' का यह कहना सच है कि जब हमारे पास स्वराज्य पानेकी एक ही समस्या थी, तब ऐसे दुर्लभ कार्यकर्ताकी परम आवश्यकता थी। जब स्वतन्त्रताके बाद समस्याओंके पहाड़ हमपर टूट पड़े हों तब किशोरलाल भाईका हमारे बीचसे जाना बहुत बड़ा संकट है।

कितने संकटके दिन हैं ये। व्यक्ति ऐसे चौराहेपर खड़ा है, जहाँ

भूखकी बाज़ार-दर बढ़ गयी है, पायी हुई स्वतन्त्रताकी बाज़ार-दर घट गयी है, पेटके ऊपर हृदय और सिर रखकर चलनेवाला भारतीय मानव, मानो हृदय और सिरपर पेट रखकर चल रहा है। खाद्य पदार्थोंकी बाज़ार-दर बढ़ी हुई हैं और चरित्रकी बाज़ार-दर गिर गयी है, हमारे श्रमकी कायरताका रूप यह है कि भूमि हम लाखों एकड़ उससे अधिक जोतने लगे हैं, जितनी कि हम सन् ४७ या सन् ४९ के पहले जोतते थे, किन्तु अनाज उससे कम पैदा करते हैं, जितना सन् ३९ के पहले कम भूमिमें पैदा किया करते थे। सेवाग्रामके पन्थियोंकी ये चिर विदाएँ विनोबा और जवाहरलाल दोनोंके संकट बढ़ाती हैं, और दोनोंके कन्धोंके बोझ भारी कर देती हैं।

संस्थाएँ, जो एक दिन स्वराज्यके पथमें बलिपन्थियोंकी बलि चढ़ाया करतीं और देशको क्षण-क्षण नवीन प्रेरणाएँ प्रदान किया करती थीं, आज रजिस्टर भरने और अपने दलके गुनाहगारोंकी गिनती लगानेका अड्डा बन गयी हैं, अब हमारी संस्थाएँ अच्छे मकान, चमकती दूकान, पैसेका कारबार और कार्यकर्ताओं व नेताओंके बोर्डिङ्-हाउस, वेटिङ्-रूम, डाक-बँगले या सर्किटहाउस हो गयी हैं। श्री मश्रूवाला, जहाँ एक तरफ़ सर्वोदय शक्ति लेकर कभी-कभी शासन और हमारी संस्थाओंकी आलोचनाएँ किया करते थे, वहाँ वे जनताका मनोबल दृढ़ किये रहनेके लिए शासन और कांग्रेसके प्रति जनताके सहयोगका मूल्य समझाते रहते थे।

हमारे देशके कुछ लोग चीन जाते, रूस जाते, जापान जाते, इंग्लैण्ड जाते। सेवाग्रामके भीतर तथा सेवाग्रामके बाहरके इन विदेश-यात्रियोंपर विदेशोंके ऐसे बुरे प्रभाव पड़ते कि ये यात्री यदि पश्चिमी देशोंकी गंगामें नहाकर आते, और पूरबके देशोंकी जमनामें नहाते, तो चीनी या रूसी जमनादास बनकर लौट आते। ऐसे समय, स्थिर दृष्टिकोणसे राष्ट्रका चरित्रदान करनेवाले श्री किशोरलाल भाई-जैसे नायकका हमारे बीचसे उठ जाना

६

निस्सन्देह हमारे लिए बड़ी हानिकी बात है। यदि संस्थाओंके नायकों और उपनायकोंमें आप बैठें तो वे बस बात करते दीख पड़ेंगे, इसपर जुर्माना करो, उसे दण्ड दो, इसपर नज़र रखो, उसपर पहरा दो। मानो पाँच वर्ष पहले, जो जय-जयकारका अधिकारी था, आज वह कान्स्टेबलों-द्वारा घेरे जानेकी वस्तु हो गया है। मश्रूवालाजी, चूँकि मानवताकी श्रेष्ठतामें विश्वास करते थे, अतः कार्यकर्ताकी श्रेष्ठताको उकसाने, उसे आमन्त्रित करने, और उसका गुण-वर्णन करनेमें कभी नहीं चूकते थे। सर्वोदयकी भावनाने देशमें जितने श्रेष्ठ कार्यकर्ताओंका निर्माण किया, उनकी दो ही आधार-शिलाएँ हैं—गुणोंकी कोमलता, अभिनन्दन और जीवनका क्रूरतर आत्म-विश्लेषण। हम जाने क्यों नहीं समझते कि कड़े क़ानून और भयंकर झिड़कियाँ कभी किसीके जीवनमें देवत्वको जन्म नहीं दे सकतीं। ईमानदार रहकर श्रम करना और भाई मानकर श्रम और संकटमें साझीदार होना ही हमारा बल बढ़ा सकता है।

जिस अन्तर्राष्ट्रीयताकी न जाने हम कितनी चर्चा करते हैं, उस नवीन अन्तर्राष्ट्रीयताका जन्म भी सेवाग्रामकी धूलिमें हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीयताकी घृणा और घृणाकी अन्तर्राष्ट्रीयता संसारने हमें दिखा दी, किन्तु जाति और धर्मोंसे परे स्नेहकी भावना हमें सेवाग्रामकी गलियोंने सिखायी। शिक्षाका, ऐसी शिक्षाका एक महान् गायक, एक महान् नायक हमारे बीचसे उठ गया।

उन्हें खोकर हमने बहुत खो दिया। वे दमेके भयंकर बीमार रहे; किन्तु ऐसा लगता है मानो देशकी समस्याओंके सुलझाव लिखनेका अत्यधिक बोझ अपने सिरपर लेकर अधिक काम करते-करते उन्होंने अपनेको मार डाला। यदि हम अनुभव कर सकें कि हमने भाई किशोरलालजी मश्रूवालाको खोकर बहुत खो दिया है तो शीघ्र ही श्रमशील मस्तकवानोंकी ऐसी श्रद्धा और स्नेह-भरी पीढ़ी दीख पड़नी चाहिए जो अपने जीवनमें मानवके पुरुषार्थसे 'हाँ' कहलाने और उसे अनन्त क्रियाशील बनानेका बल रखती हो, किन्तु साथ ही पतनशील गतियोंमें राष्ट्रों, समाजों, साथियों

और सामन्तोंसे पतन-प्रवृत्तिमें निर्विकार 'ना' कहनेकी अनन्त श्रद्धामयी शक्ति भी अपनेमें रखती हो। सर्वोदयका बल और गान्धीवादकी अनन्त क्षमता, भारतीय स्वतन्त्रताके रक्षकोंसे माँग करती है कि भाई मश्रूवालाजी-की समाधिपर बैठकर हम अपने युगकी राजनीति और स्वराज्य-संचालनमें अनन्त चरित्र निर्माण कर सकें।

## राष्ट्रसेवक डॉक्टर अन्सारी

"डॉक्टर अन्सारीकी मृत्यु (राष्ट्रको) मूर्च्छित कर देनेवाला आघात है"। महात्माजीने डॉक्टर अन्सारीके अकस्मात् अवसानपर इन शब्दोंमें अपनी भावनाएँ व्यक्त की थीं। ८ मईको डॉक्टर अन्सारी रामपुरके नवाबके यहाँ मरीज़ोंको देखने मसूरी गये। दिन-भर वे रोगियोंकी देख-भालमें व्यस्त रहे। इस थका देनेवाले श्रमने उनके टूटे हुए स्वास्थ्यपर घातक प्रहार किया। ९ की रातको जब वे मसूरीसे देहरादून एक्सप्रेसपर दिल्ली लौट रहे थे, तब बीचमें ही जैनपुरसौन स्टेशनपर, साढ़े बारह बजे रातको, हृदयकी गति रुक जानेसे, महात्माजीके शब्दोंमें, 'ग़रीबोंका मसीहा' अन्सारी, जिसकी गोदमें महात्माजी अपनेको 'सुरक्षित' समझते थे, चल बसा। महात्मा गान्धी, डॉक्टर अन्सारीको, हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न-पर अपना 'रहनुमा' मानते थे। रहनुमा, ऐसा सच्चा,—"जो कभी ग़लती नहीं करता था।" अपने इस 'पथप्रदर्शक'के साथ मिलकर महात्मा-जी, राष्ट्रकी "बढ़ती हुई सामाजिक बुराइयोंपर आक्रमणकी तैयारियाँ" कर रहे थे; किन्तु,

*"आख़िरश क़ौम की*
*क़िस्मत का कँगूरा टूटा*
*मौत का कुछ न गया*
*भाग हमारा फूटा"*

तैयारियाँ धरी रह गयीं, मनसूबोंपर ओले पड़ गये, राष्ट्रको आँसुओंमें भिगोकर अन्सारी, उसकी गोद खाली कर चला !

डॉक्टर अन्सारी वह राष्ट्रभक्त थे जिनके सार्वजनिक जीवनमें कभी शिथिलता नहीं आयी। उनका सार्वजनिक सेवाका जीवन सन् १९१२-१३

से प्रारम्भ होता है। विलायतमें शिक्षा समाप्त कर वे भारत आये ही थे कि, टर्की-बालकन युद्धके अवसरपर अखिल भारतीय मेडिकल मिशनके अध्यक्ष होकर उन्हें टर्की जाना पड़ा। इस मिशनका कार्य इतना सफल और सन्तोषप्रद हुआ कि टर्कीके सुलतानने डॉक्टर अन्सारीको 'किसी भी विदेशीको दिये जानेवाले सर्वश्रेष्ठ सम्मान'से सम्मानित किया। आज भी उन अमर सेवाओंको याद कर टर्की, डॉक्टर अन्सारी, उनके दल और भारतके सामने कृतज्ञतासे नतमस्तक है।

अन्सारीके राष्ट्र-प्रेम और सेवाकी लगनने अपने पाँवके नीचे कभी असावधानीकी दूब नहीं उगने दी। अनुभवके साथ वह निखरी। उम्रकी उतारके साथ उसमें वह गम्भीरता उतरी, जिसने घटनाओंकी ओट लेकर कभी भी अपनेको गुमराह न होने दिया, साथ ही वह इतनी विशाल बनी कि राष्ट्रके भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंको भी उसने सफलतापूर्वक अपनाया।

भारतीय राजनीतिमें डॉक्टर अन्सारीका प्रभावशाली प्रवेश सन् १९१८ में हुआ। दिल्लीमें राष्ट्रीय महासभाके अधिवेशनके साथ, अखिल भारतीय मुस्लिम लीगका अधिवेशन हुआ। डॉक्टर अन्सारी उसके स्वागताध्यक्ष बनाये गये। उस समयके काँग्रेस और मुस्लिम लीगमें दिये गये अनेक भाषणोंमें अकेले डॉक्टर अन्सारीके स्वागत भाषणको ही सरकार-द्वारा ज़ब्त होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसी वर्ष आप अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटीके ज्वाइण्ट सेक्रेटरी चुने गये। इस पदपर आप सन् १९२७ तक—जब तक कि वे स्वयं काँग्रेसके सभापति न हो गये—रहे।

सन् १९२७ की मद्रासकी यशस्विनी काँग्रेसने भारतीय महत्त्वाकांक्षाओंकी भागीरथीको विश्वके सामने उज्ज्वल और यथार्थ रूपमें प्रकट होनेका अवसर दिया। उसके पहले तक हम 'साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य' का कायर मन्त्र जाप करके अपनेको आनेवाली पीढ़ियोंके उपहासका साधन बना रहे थे। मद्रासमें हमने इस नपुंसक मनोवृत्तिको त्याग कर घोषित किया कि हमारा लक्ष्य मुकम्मिल आज़ादी—पूर्ण स्वराज्य—है, उससे कम कुछ नहीं।

पूर्ण स्वराज्यका यह गर्वीला प्रस्ताव उसी 'राष्ट्रीय मुसलमान' डॉक्टर अन्सारीके नेतृत्वमें स्वीकृत हुआ, जिसकी निगाह हिन्दू और मुसलमानके भेदसे सदा पाक रही और अपने जीवनकी अन्तिम घड़ियों तक जिसके हृदयमें हिन्दू-मुस्लिम प्रश्नको सुलझानेकी तड़पन मौजूद रही।

सन् १९३० में कांग्रेसके डिक्टेटरकी हैसियतसे डॉक्टर अन्सारी अपनी वर्किङ् कमेटीके साथ गिरफ़्तार कर लिये गये। इसके बाद गान्धी-इरविन-समझौता हुआ, जिसमें डॉक्टर अन्सारीका बहुत बड़ा हाथ था।

सन् १९३४ में कांग्रेसने व्यवस्थापिका सभाओंपर क़ब्ज़ा करनेका निश्चय किया। उसके लिए जो पार्लामेण्टरी बोर्ड बना उसके सभापति भी आप ही चुने गये। नेहरू रिपोर्ट तैयार करनेमें डॉक्टर अन्सारीका जो महत्त्व-पूर्ण सहयोग था उसका परिचय तब मिला जब लखनऊकी कांग्रेस-द्वारा रिपोर्ट अस्वीकृत क़रार दिये जानेके बाद कुछ मित्र डॉक्टर साहबको यह खबर देने पहुँचे कि "हमने आपकी रिपोर्टको रावीकी तरंगोंके साथ बहा दिया।"

सन् १९२० से लगाकर सन् १९३६ के अपने जीवनके अन्तिम दिनों तक वे बराबर कांग्रेसके साथ रहे। ऊपरके विवरणोंसे स्पष्ट है कि इस अवधि-में कोई भी ऐसा राजनीतिक महत्त्वका काम नहीं हुआ, जिसके डॉक्टर अन्सारी दाहिने या बायें हाथ न रहे हों। वे प्रान्तीय नेता थे, राष्ट्रीय नेता थे और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व भी उनका कम न था। आजकी उलझीली परिस्थितियोंमें राष्ट्रनायक डॉक्टर अन्सारीको खोकर राष्ट्रकी चेतना सच-मुच आहत हो उठी है।

## मैं आगेका जय-जयकार

श्रद्धेय मैथिलीशरणजी गुप्तकी कविता सर्वप्रथम मैंने १९०७ में पढ़ी। उस समय मैं गाँवसे नया-नया ही खण्डवा आया था, खण्डवा म्युनिस्पलटीके कैशियर मेरे मित्र श्रीतोताराम पारगीर 'सरस्वती' मासिक पत्रिका मँगवाते थे, उन दिनों स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी-द्वारा सम्पादित इण्डियन प्रेसकी प्रधान पत्रिका 'सरस्वती'में गुप्तजीकी कविताएँ प्रकाशित हुआ करती थीं। स्वर्गीय बी० जगन्नाथप्रसादजी 'भानु' कविके कार्यालयके कुछ मित्र तथा पारगीरजी 'सरस्वती' लेकर बैठते और व्रजभाषासे हटकर बिलकुल नवीन रूपमें आनेवाली हिन्दी कविताका रसास्वादन करते, उन दिनों गुप्तजीकी कविता नवीन तरुणोंकी वाणीका भूषण थी। केवल किसी एक पुस्तककी कविता ही लोगोंके मनको मोहती हो ऐसी बात नहीं, प्रत्येक पुस्तक हिन्दीमें बहुत सम्मान, सद्‌भाव और जोशके साथ पढ़ी जाती। जयद्रथवध, रंगमें भंग और गुप्तजीकी फुटकर कविताएँ लोगोंको बहुत भातीं। मानो व्रजभाषाके बाहुल्य और प्रभुत्वके सामने लोग खड़ी बोलीमें लिखी हुई हिन्दी कविताकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे।

उन दिनों स्वर्गीय श्री श्रीधर पाठक, स्वर्गीय राय देवीप्रसाद पूर्ण, स्वर्गीय श्री कामताप्रसादजी गुरु और प्रतिभा-पुरुष नाथूरामजी 'शंकर' शर्माकी कविताओंकी विशेष धूम थी, किन्तु ये गुरुजन व्रजभाषामें भी कविता लिखते थे और खड़ी बोलीमें भी। खड़ी बोली और केवल खड़ी बोलीमें कविता लिखकर निर्भीकतापूर्वक, किन्तु अत्यन्त नम्रतासे खड़े रहनेवाले, एक मात्र गुप्तजी ही थे। जिस समय 'भारत-भारती' निकली उस समय तो लगा जैसे राजनीतिक और सामाजिक विचारधारामें एक तूफ़ान आ गया। सभा-मंचोंपर वक्ता 'भारत-भारती'के छन्दोंका इतना

उपयोग करते मानो उनके कहनेकी सामग्रीके शीर्षक और प्राण केवल हिन्दीकी काव्य पुस्तक 'भारत-भारती'में ही हैं। उन दिनोंका शायद ही कोई हिन्दी समाचारपत्र हो जिसने गुप्तजी और उनकी कविता तथा 'भारत-भारती'की प्रशंसा न की हो। जब यह पुस्तक निकली तब गुप्तजीके और हिन्दी-जगत्के आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने अपने शिष्य गुप्तजीको प्रशस्तिमें 'सरस्वती'में कदाचित् वसन्त-तिलका वृत्तमें एक छन्द लिख डाला, जिसकी अन्तिम पंक्ति थी,

*"श्रीमैथिलीशरणगुप्त उदारवृत्तः।"*

यों आचार्य द्विवेदीजीसे प्रशंसा पा लेना उस युगमें अथवा उनके जीते जी अत्यन्त कठिन काम था, किन्तु गुप्तजीको द्विवेदीजीका परम आशीर्वाद प्राप्त था। द्विवेदीजीने गुप्तजीको अपने युगके प्रति अत्यन्त ईमानदार और आमुख पाया; और लगा कि उन्हें वह चीज़ प्राप्त हो गयी जिसकी वे हिन्दीमें आवश्यकता अनुभव करते थे।

मैंने मैथिलीशरणजीकी कोई रचना उस युगसे आज तक ऐसी नहीं पढ़ी जिसमें व्रजभाषाका उपयोग हुआ हो, केवल उनकी गोवर्द्धनधारण रचनामें उन्होंने यह कहलाया है,

*दब मति जाय मेरो बारो कान्ह भोरो हाय,*
*तू भी दै सहारो सखि शैल बड़ो भारी है।*

आज जिस क्रान्तियुगमें हम विचरण कर रहे हैं, उसकी प्रारम्भिक जड़ श्रीमैथिलीशरणजी गुप्तको सँभालनी पड़ी। सच पूछा जाये तो युग उनके कन्धोंपर बैठकर आज इतनी दूर आया है। युगके प्रारम्भमें ही उन्होंने शृंगारकी कविताको, जिसकी हर सुधारक भर्त्सना किया करता था, डाटकर कहा,

*प्रिय चन्द्रवदन की चटक नहीं हो जिसमें,*
*नागिन-सी लट की लटक नहीं हो जिसमें,*
*भ्रू और दृगों की मटक नहीं हो जिसमें,*

*मन्मथ-महीप का कटक नहीं हो जिसमें,*
*उसको कविता ही नहीं आप बतलाते,*
*कविराज आपके चरित न जाने जाते।*

यह पूरी कविता जब 'सरस्वती' में छपी तो लोग गली-कूचोंमें इसे मस्त होकर गुनगुनाते और गुप्तजीको देखनेके लिए तरसते।

राजनीतिकी किसी महत्त्वाकांक्षाके दास न होनेके कारण गुप्तजी साहित्य-सर्जनमें लगातार लगे रहे और आज तक लगे हैं, किन्तु रचनाकी प्रखरताओंके कारण वे शासनप्रिय बनकर नहीं रह सकते थे। यहाँतक कि भारत-भारतीके अन्तमें वर्णित सोहनीके कारण तो झाँसीकी पुलिस और झाँसीके कलेक्टर भड़क गये और गुप्तजीको कारावासमें भिजवा दिया।

जब स्वर्गीय गणेशशंकरजी विद्यार्थीने कानपुरसे 'प्रताप' प्रकाशित किया तब उसमें समय-समयपर गुप्तजीकी कविताके दर्शन होते। 'प्रताप' के प्रथम विशेषांकके मुखपृष्ठपर दक्षिण अफ्रीकामें सत्याग्रह-आन्दोलन चलानेवाले, कर्मवीर मोहनदास करमचन्द गान्धीके नामसे उस समय विख्यात, महात्मा गान्धीकी प्रशस्तिमें गुप्तजीकी जो कविता प्रकाशित हुई वह मानो हिन्दी-जगत्‌की तरुणाईकी नस-नसमें ऊग उठी। मेरे लिए तो उस समय गुप्तजी सब कुछ थे। वे प्रेरक थे, मार्गदर्शक थे और क्या नहीं थे!

उस समय मैं तुकबन्दियाँ लिखने तो लगा था, किन्तु वातावरणकी रुचिके अनुकूल व्रजभाषामें ही लिखता था। गुप्तजीका नया पथ मुझे बहुत भाया और यद्यपि मेरी और उनकी उम्रमें दो-तीन वर्षों ही का अन्तर होगा, मेरे लिए वे सदैव ही श्रद्धाकी वस्तु रहे हैं।

मैंने प्रथम बार मैथिलीशरणजी गुप्तको लखनऊकी कांग्रेसमें देखा। यों उससे पहले मैं स्वर्गीय भाई गणेशशंकरजीसे, स्वर्गीय पं० महावीर-प्रसादजी द्विवेदीसे तथा अन्य कुछ मित्रोंसे भी उनके विषयमें बहुत कुछ सुन चुका था। गणेशजीको दो-तीन वर्ष पहले मैं लखनऊके हिन्दी साहित्य सम्मेलनमें देख चुका था। जब मैंने गुप्तजीको लखनऊ कांग्रेसके समय देखा

तब मुझे याद पड़ता है कि स्वर्गीय गणेशशंकरजी विद्यार्थी, स्वर्गीय शिवनारायणजी मिश्र, स्वर्गीय बद्रीनाथजी भट्ट, स्वर्गीय शालिगरामजी वर्मा, स्वर्गीय अध्यापक रामरत्नजी और विश्रुत उपन्यासकार श्रीयुत वृन्दावनलालजी वर्मा उनके साथ थे। गुप्तजी उस समय लाल पाग बाँधे हुए थे। लोक-जीवनकी सरलताने मुझे दो ही बार जोरके झटके दिये हैं। एक बार गुप्तजीको अत्यन्त सरल पाकर और एक बार दुपल्ली टोपी, घुटने तक धोती तथा सिकुड़ती हुई सूती मिरजई पहने हुए स्वर्गीय कवि सत्यनारायणजीको भाई बनारसीदासजी चतुर्वेदीजीके साथ देखकर। उस समय राजनीति-पर अत्यन्त क्रोधित ब्रिटिश-युगके दायमी अपराधीके नाते छिपकर जीवन बिताना ही चोरों और बटमारोंके सिवाय क्रान्तिकारियोंका पेशा हो रहा था। ऐसे समय 'प्रताप' का जन्म मानो क्रान्तिकी बलवान् अभिलाषाका जन्म था और गुप्तजीका उस परिवारमें सम्मिलित रहना नयी पारिवारिकता-का अत्यन्त उज्ज्वल रूप था।

मैं जब भारतेन्दु-युगसे आज तकके हिन्दी काव्यके मोड़ोंके जोड़ मिलाने बैठता हूँ तब भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके पश्चात् मुझे ऊँचाईपर मैथिलीशरणजी खड़े दिखायी देते हैं। यों व्रजभाषा छोड़नेके साथ हिन्दीने रस और पहुँचका इतना बड़ा खजाना छोड़ दिया है कि हमारे मार्गके सारे प्रयत्नोंके बावजूद भी अभी हिन्दी कविता, रस, राग, अनुभूति, आनन्द और समर्पण-में प्राचीन कविताके पास नहीं पहुँच पायी। हमारी शोभा इसीमें है कि हम इस तथ्यको पचास वर्षके पश्चात् नम्रतापूर्वक स्वीकार करें और गर्वपूर्वक आगे आनेवाली पीढ़ियोंको अपनी सीमा-रेखाका ज्ञान करायें। उपमा, अलंकार, मुहावरे, कहावतें, वृत्त, इन सबमें जो एक आनन्द-वर्धक चुहल है उस तक पहुँचनेमें समस्त मौलिकताके बावजूद भी हमारा रस और राग मानो पराजित-सा हो रहा है। मानो हिन्दीके सीधे-सादे शब्दोंका बोझा ढोते-ढोते पीढ़ियोंमें वह कल्पकता हो नहीं आ रही जो रसकी समस्त मस्तियोंके साथ काव्यका अवतरण कर सके। एक पीढ़ीने शृंगार किया

और उठती हुई तरुणाइयोंने यदि रीतिकालकी कविताकी भर्त्सना की तो उसके साथ-ही-साथ अपनी काव्यकलामें शृंगारकी ऐसी बाढ़ें आयीं कि यह पहचानना कठिन हो गया कि वृत्त और समयकी कमियोंके सिवाय रीतिकालीन कवितामें और दोष ही क्या था। किन्तु तिरस्कारमें या उपेक्षामें, गर्वमें या उद्दण्डतामें, दौड़में या अध्ययनमें हिन्दीमें जब जो कुछ भी कहा गया ऐसा लगा मानो गुप्तजीका शील, उनकी सहिष्णुता और उनका उत्साह-दान अपनी पीढ़ियोंका पूरक-तन्तु बनकर अमर है।

अपनी क्षुद्र तुकबन्दियोंका जो भी मोह मुझमें विद्यमान था, उसे खड़ी बोलीकी ओर मोड़नेका सम्पूर्ण श्रेय श्री मैथिलीशरणजी गुप्तको है। यद्यपि मेरा पक्षपात उनको परम श्रद्धासे देखकर भी चोरी-चोरी, युगमें चिरगाँवमें सदैव सियारामशरणजीकी कविताके साथ रहता आया है। गुप्तजीने कविता-के कालको सांसारिक रुचिके जड़व्यालके साथ नहीं बांधा। वे अपनी आरा-धना वृत्तिमें इतने सजग रहे कि अपनी रचनामें सदैव उन्मेष और पूजा भावना प्रदान करनेवाले व्यक्तियों, वस्तुओं और मर्यादाओंके प्रति ही उनने अपनेको व्यक्त किया। श्री रामके प्रति उनका स्नेह इतना व्याप्त हो गया है कि युगके युवक हँसकर भी यह मानते हैं कि जीवनको कथनके प्रति ईमानदार रखनेमें उनको अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। ब्रिटिश-युगका काव्य-पुरुषार्थ जब सिसकियाँ भर रहा था, रीतिकालीन युगसे हिन्दी काव्य घबड़ा-सा गया था और जब काव्यके नामपर रति-विलासके कुम्भीपाक नरकोंका निर्माण काव्यकला कहा जाता था तब जिस व्यक्तिने अपनी लेखनीको ज़रा भी डाँवाडोल नहीं होने दिया उसे मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं। राजनीतिज्ञोंके भाषणोंकी पहुँच चाहे जैसी होती हो, पर वे गाये और दोहराये नहीं जाते किन्तु, *"सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान"* के प्रशस्त पथको गुप्तजी निबाहते रहे। मैं उस रचनाकारकी सदैव प्रशंसा करता रहा हूँ जो अपनी रचनाओंका पथ नहीं बदलता। पथ न बदलनेवाले रचनाकारोंकी पीढ़ियोंको गौरवान्वित करनेवाले कुछ लोग

गुप्तजीके पश्चात् हिन्दीमें हुए हैं और उनकी वृद्धि उत्तरोत्तर हो यही वर-दान मैं प्रभुसे माँगता हूँ।

सच बात तो यह है कि यह मोह निरा बचपन है कि हिन्दी कविता सदैव एक ही ढाँचेपर चलती रहे। इन्द्रधनुषके रंगोंकी तरह, ऋतु-ऋतुके पुष्पोंकी तरह, आती-जाती ऋतुओंकी तरह हिन्दीका मौलिक रंग क्यों न विकसे, क्यों न फूले, क्यों न फले? परिवर्तन न केवल भारतवर्षमें किन्तु विश्व-भरमें आया हुआ है और नया युग उसका स्वागत कर रहा है, शुभ है। किन्तु हमें यह सावधानी लेनी होगी कि विश्वकी जूठन समेटकर हम विश्वको उपहार देनेका स्वांग न भरने लगें। भारतवर्षकी और एशियाकी मौलिक भावना बलिदान और समर्पण है। विश्वका कोई देश अपने काव्यके चिर-जागृत रसको इन दो भुजाओंपर खड़ा नहीं रखता। अतः बुद्धजयन्ती-का उत्सव और १८५७ के विद्रोहका उत्सव एक ही वर्षमें साथ-साथ मनानेवाले भारतवर्षके सूझपन्थीसे यह आशा करनी चाहिए कि माना कि विविधता वैषम्य नहीं है, विभिन्नता आत्म-विद्रोह नहीं है; एक-से छन्दोंमें भी अनेक रसोंका आरोप हो सकता है, अनेक आवेग आ सकते हैं। पृथ्वीसे लगाकर आकाश तक समस्याओंकी जो बेलें आनन्द, निष्ठुर सत्य और करुणाको लेकर लहलहा रही हैं, उसके आगे बढ़ते चरणोंमें कँपकँपी लानेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं होती, किन्तु हम यह न भूलें कि किसी कठोर स्था-यित्वसे भी हम बँधे हुए हैं, हम मानव। हम बोलते जिह्वासे ही हैं, देखते आँखोंसे ही हैं, सुनते कानोंसे ही हैं। इनके न आकारमें हमारी मौलिक इच्छा चल पाती है और न प्रकारमें। अतः आगे बढ़ता हुआ युग अपने ही युगोंको और उनके मूल्योंको मस्तक झुकाकर आगे बढ़े। यों गुप्तजीका व्यक्तित्व तो इतना नम्र है कि उलट-पलट करती हुई समस्त नवीन पीढ़ी-का भोले भावसे सन्तजनोचित शब्दोंमें वे यह कहकर स्वागत करते हैं कि,

*'जो पीछे आ रहे उन्हीं का, मैं आगे का जय-जयकार।'*

## श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल

वह लकीरें नहीं खींचता, साहित्यिक युगपर अपनी लकीर खींचता। वह क्षर नहीं अक्षर लिखता। उसकी लेखनी श्यामघन बनकर साहित्य-की क्यारी-क्यारीपर बरस रही है। वह किसी पथपर चलनेके लिए आँख नहीं मूँदता, किसी विचारके मस्तकपर साहित्य बनकर उतरनेके समय आँख मूँदता। उसकी लगन लिखती, उसकी क़लम बोलती। वह हिन्दी साहित्यका संयमशील स्वर है; उसकी बात राष्ट्रभारतीका पुष्टिकर व्यंजन है; उसमें साहित्यके सजीव निर्माणकी प्रबोधमयी मात्रा है। उसका आदर्श उसकी लिखावटमें छुपकर उसे छन्द बना देता है। साहित्यिक सतहपर प्रकाश पहुँचाने, सतहसे मस्तक ऊँचा रखने, तरंगोंकी मरज़ीपर न झुकने, लहरोंके उन्मादमें नौकाकी तरह न हिलने-डुलने, सागरके ज्वार-में जहाज़ी बेड़ोंकी तरह प्रत्येक साहित्यिक, परम विवादमें भी उसकी सन्धि-का अधिकारी है। वह राष्ट्रभारतीके गीतका उज्ज्वल चरण, संयमशीला सरस्वतीका पदविन्यास और साहित्यकी आवश्यकताका करुण गीत है।

# जयशंकर प्रसाद

स्व० श्री जयशंकर प्रसाद उन कवियोंमें हैं जो सदैव अमर हैं; न वे मर सकते हैं, न उन्हें कभी मारा ही जा सकता है। जिन यादोंपर, जिन भूतकालीन यादोंपर प्रसाद अपनी रचना किया करते थे वे यादें आज भी शाश्वत हैं और प्रसादका पार्थिव शरीर कहीं भी रहे, किन्तु वे ही यादें प्रसादके यश-शरीरसे लिपटकर वहाँतक फैल जाती हैं, जहाँतक प्रसादको पढ़ने और समझनेकी ललक और लालसा है।

बताते हैं अँगरेज़ीके सुप्रसिद्ध व्यंग्य नाट्यकार और विश्वके अति परिचित लेखक बर्नार्ड शॉने एक बार शिकायत की कि 'मेरी रचनाओंको विद्यालयोंमें ले जाकर अध्यापकोंने मुझे विद्यार्थियोंमें अप्रिय बना दिया,' किन्तु कहन हो या कहनका मसाला, वर्णन-शैली हो या वर्णन स्वयं, काव्यका शरीर हो अथवा उसकी आत्मा, प्रसादकी कवितामें काव्य और जगत् ऐसे घुल-मिलकर बैठे हैं कि विद्यार्थियोंके बीच भी उन्हें अप्रिय नहीं बनाया जा सकता। प्रसादकी पीढ़ी प्रसादकी रचनामें अपने तारुण्यके स्वरको उसी प्रकार दुलार करती है, जिस प्रकार सौन्दर्य पार्थिव रूपमें दर्पणके सामने उपस्थित होकर अपनेको सँवारने लगता है; प्रसादका काव्य इसलिए युग-युग अमर है, क्योंकि सूझें उसे सँवारती हैं, कथनकी घनिकता बुद्धिको भोजन देती चलती है, और वह निगूढ़ तत्त्वोंको भी इतनी सरलतासे कहती है कि रसका बहुत बड़ा अंश पाठकके पल्ले पड़ जाता है। घटनाएँ रस-सिद्धवाणीके कवियोंकी तरह प्रसादकी रचनाओंके पास आकर कह जाती हैं कि हानि-लाभ, जीवन-मरण और गुण-दोषकी कोई सीमा-रेखा उनके बीच नहीं खींची जा सकती। कालिदासके कथन और रघुवंश तथा उनकी अन्य कृतियोंके मूल पौराणिक कथानकोंके बीचमें जो दूरी है वह ऐसी ही

जाती है कि उनका अज और उनकी इन्दुमती, उनका शंकर और उनकी पार्वती, उनकी शकुन्तला, उनका दुष्यन्त मानो अपने इतिहास और पुण्य स्थलोंके लोकसे उतर-उतरकर वाणीके उस वरद-पुत्रके कथनमें समा-से गये हैं। महाभारत और रामायणके उनके रूप और कालिदासके द्वारा दिखाये गये इनके रूपमें, इन दो रूपोंमें, जन-जीवन कालिदासके दिखाये दृश्योंपर ही अधिक आशिक्त होता है। प्रसादकी भी वाणीकी कहन और उनके कथा-सूत्रोंकी दूरीके मूलधनको लोग स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं हैं। उन कथानकोंके विषयमें मूल ग्रन्थोंमें क्या कहा गया है, इसकी अपेक्षा लोग इसी बातपर अधिक आनन्दित होते हैं कि प्रसाद उसे किस प्रकार कहते हैं। ऐसे समय लोग सुनना चाहें या न सुनना चाहें तो भी यह कहना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रसादको समझनेके लिए समझके चढ़ावकी सीढ़ियाँ सुरक्षित रहें।

अतः यह आवश्यक है कि हम प्राचीन रस-सिद्ध कवियोंकी तरह प्रसादके कृतित्वको पीढ़ियोंमें अत्यधिक समझे जानेके लिए व्याकरण, व्याख्या और कोष-निर्माण-द्वारा उचित लोकसेवा करते जायें, जिससे क्लास-रूमोंमें और जन-साधारणकी श्रेणियोंमें जब लोकरुचि प्रसादके कथनपर आसक्त हो तब वह हमारी या जमानेकी बात मानकर न रह जाये, वह प्रसादकी रचनाके कण-कण और क्षण-क्षणको समझ सके।

प्रसादसे मेरे परिचयकी बात यदि आपसे कहूँ तो शायद आप हँसेंगे। सन् १९१३ में खण्डवासे 'प्रभा' नामकी एक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती थी, उसमें आलोचनाके लिए प्रसादका एक छोटा-सा कहानी-संग्रह आया। उस पुस्तिकाकी एक कहानीका नाम था मदन-मृणालिनी और एक कहानीका नाम छाया भी था। उन दिनों मौलिक कहानियाँ लिखनेका युग हिन्दीमें जड़ नहीं पकड़ पाया था। हमारे अन्य पड़ोसी प्रदेशोंकी भाषाओंमें भी अँगरेजी बाङ्ला कहानियोंसे अनुवाद हुआ करते थे। 'प्रभा'के सम्पादकीय कार्यालयमें-से मैंने प्रसादजीको पत्र लिखा था कि कहानियाँ बहुत अच्छी हैं, मैं

पुस्तकको दो बार पढ़ गया, कृपया लिखिए कि ये कहानियाँ कहींसे अनुवाद तो नहीं की गयीं ? 'इन्दु' के सम्पादक 'गुप्तजी' का पत्र आया कि वे कहानियाँ मौलिक ही हैं। किन्तु प्रसादकी याददाश्त देखिए कि जब इस घटनाके १९ वर्ष बाद सन् १९३२ में शान्तिनिकेतनसे लौटते हुए मैं उनसे पहले-पहल मिला, तब उन्होंने हँसकर कहा अब तो आपको विश्वास है कि मेरी कहानियाँ अनुवाद नहीं होतीं। इसके पश्चात् हम दोनों हँसते रहे और बहुत-सी ऐसी बातें करते रहे जिनका करना उस समय आवश्यक था।

सन् १९१३-१४ में प्रसादकी एक कविता 'इन्दु' में छपी थी। उसका शीर्षक यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो 'इन्द्रधनुष' था। उसमें विरक्त विचारोंको देखकर मुझे लगा कि एक दृढ़ क़लमका धनी हिन्दीमें आ रहा है। अपनी इस प्रसन्नताको मैंने छेड़-छाड़ ही के द्वारा व्यक्त किया। मैंने इस आशयका एक पत्र उनको लिखा था कि श्रीधर पाठककी 'काश्मीर सुषमा' नामक कविताकी चुनौती नयी पीढ़ीको स्वीकार करनी चाहिए और झिझक तथा रुकावटोंके परे अपनी बात कहनी चाहिए। बहुत समयके पश्चात् इस पत्रका यह उत्तर आया था कि समय-समयपर मैं अपने विचार इसी तरह व्यक्त करता रहूँ। किन्तु जीवनपर पुलिसका कड़ा पहरा रहनेके कारण न मैं काग़ज़ोंको सँभालकर रख सकता था, न मित्रोंके पास स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा सकता था और न ही पत्र-व्यवहार जारी रखकर अपने मित्रोंके सिरपर संकट औंधते देख सकता था।

जिस समय प्रसाद लिखने लगे उस समय हिन्दी-जगत्‌में दो तीन घटनाएँ घटीं। एक यह कि स्वर्गीय पूज्य पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी और उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' मासिक पत्रिकाके प्रयत्नोंसे कविताका ब्रजभाषासे खड़ी बोलीमें लिखा जाना प्रारम्भ हुआ था। इस समय इस विषयपर घनघोर चर्चाएँ हो रही थीं कि कविता ब्रजभाषामें लिखी जाये अथवा खड़ी बोलीमें। प्रतिभाके धनी स्वर्गीय नाथूरामजी 'शंकर' शर्मा और हिन्दीके तेजस्वी गौरव राय देवीप्रसादजी 'पूर्ण' ब्रज-भाषामें कविता लिखते हुए

खड़ी बोलीमें कविता लिखनेके लिए उन्मुख हुए थे, किन्तु राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्तकी जो कविताएँ 'सरस्वती'में प्रकाशित होती थीं वे समस्त खड़ी बोलीमें लिखी जाती थीं। इसी प्रकार स्वर्गीय पण्डित कामताप्रसादजी गुरु 'सरस्वती'में और 'प्रभा'में भी खड़ी बोलीमें कविता लिखते थे। उस समयके विद्रोही तरुणको तरह श्री जयशंकर प्रसादजीने अपने कठिन मार्गके लिए खड़ी बोलीके इसी माध्यमको अपनाया। दूसरी घटना यह हुई कि भारतकी स्वाधीनताके लिए होनेवाले प्रयत्नोंमें हिन्दी-साहित्य जुटता जा रहा था। इन प्रयत्नोंका श्रीगणेश काशीसे ही वर्षों पहले स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र प्रारम्भ कर चुके थे। अतः भारतीय जीवनको उन्नत बनाने-वाले सुधारोंकी ओर साहित्यका ध्यान गया जो कि स्वाभाविक था।

जिस तरह भक्त-कवियों और रीति-कालीन कवियोंकी कवितामें एक संघर्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है उसी तरह भारतेन्दु व द्विवेदी-युगीन सुधार-वादी कवियों और नये छायावादी कवियोंमें भी एक संघर्ष उत्पन्न हुआ। मेरी समझमें नहीं आता कि उस समय काव्यका माधुर्य सुधारोंकी झड़पसे अपने अस्तित्वको बचानेके लिए अथवा कविताके अमर माधुर्यको सुरक्षित रखनेके लिए यदि समाजमें संघर्ष उपस्थित नहीं करना चाहता था तो छायावादका रूप न लेता तो क्या करता। उपेक्षा, रुकावट, अपमान और बदनामीका बड़े-से-बड़ा मूल्य चुकाकर भी माधुर्यकी रक्षा करना और इस तरह प्रकारान्तरसे अपनी ग़लत या सही धारणाके अनुसार लबालब भरे हुए अनन्तके माधुर्यकी छलकसे अन्तरतम और अपनी पंक्तियोंको निहाल कर ले जानेके लिए छुपकर बात कह ले जानेके सिवा और चारा ही क्या? अतः उस समयका क्रान्तिवाद यदि भारतीय पराधीनताके प्रति विद्रोह था और लुक-छिपकर ज़िन्दगी बिताना उनकी लाचारी थी, तो सुधारवाद और गद्या-त्मकताके अधिक उपदेशप्रद ऊँचे उठकर बोलनेके दिनोंमें भाषा और कथनकी मल्ल-विद्या सीखनेकी अपेक्षा भावोंकी जगदीश्वरीके आँगनमें आँसुओं और अनुभूतियोंके पंख लगाकर आनन्द और माधुर्यको न छूटने देनेके लिए नगण्य

कहलाकर भी विद्रोह करनेके लिए युगके माधुर्यकी तबीयत मचल-मचल उठती थी। इस तरहकी रचनाओंको सबसे पहले स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थीने 'प्रताप'में प्रकाशित किया। यद्यपि सर्वसाधारणमें इस धाराके फैलनेकी उन्हें अधिक आशा न थी। उन्होंने मुझसे कहा भी था कि ऐसी पंक्तियोंको लिखकर आप अकेले पड़ जायेंगे। मुझे यह मालूम नहीं था कि इस दिशामें श्री जयशंकर प्रसाद कुछ लिख रहे हैं; बहुत कुछ कर रहे हैं। मुझे उनकी रचनाओंकी ओर उन्मुख होनेका बहुत विलम्बसे अवसर मिला। आजके सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉ० विनयमोहन शर्मा उन दिनों काशी विश्वविद्यालयमें पढ़ते थे। यह कोई सन् १९२७-२८ की बात है। वे जब काशीसे लौटते तो जयशंकर प्रसादकी रचनाओंसे खूब ही प्रभावित होकर लौटते। एक बार प्रसादजीकी 'आँसू' नामक पुस्तिका ले आये। मुझे लगा मानो उपासनाके पत्थरमें साँस आ गयी। मेरा हृदय खिल उठा और भावात्मक काव्यके उस सबल रूपपर मेरा मन बाग़-बाग़ हो उठा। रह-रहकर आज भी मुझे उस बातका विचार हुए बिना नहीं रहता।

एन्थ्रोपॉलोजिस्ट ( मानवशरीर-शास्त्र-ज्ञाता ) कहते हैं कि जमुहाई लेना, आँखोंकी पलकोंका हिलना-डुलना, शरीरका सिकुड़ना और फैलना, मनुष्य या प्राणी मात्रकी ये आदतें अथवा ऐसी ही क्रियाएँ अपने-आप होती हैं; इनके लिए आयास नहीं करना पड़ता। संगीतमें राग-रागिनियोंके उतार-चढ़ावके रियाज़में वर्षों लग जाते हैं। चित्र, नृत्य और मूर्ति भी इस श्रमसे खाली नहीं; वर्षोंके अभ्यास, अनुभूति और अध्ययनके साथ चलते हैं। तब क्या काव्यकी सूझें ही इतनी जड़ीभूता हैं जो एन्थ्रोपॉलोजिस्टकी बतायी क्रियाओंकी तरह अपने-आप होने लगी हैं ? जिस समय प्रसादके उन्मुक्त काव्य-भावोंको पढ़ता हूँ तो लगता है यह जीवनकी निर्माल्य बिखरन नहीं है, साधनाका एक परिवार है जो प्रसादकी रचनाओंके पीछे खड़ा है। और तब प्रसादके इन कथनोंमें जहाँ रस दिखायी देता, वहाँ तिल-तिलकर प्रसादका इस रसके लिए मिट जाना भी दीख पड़ता है। इन

पंक्तियोंको देखिए,

क्यों व्यथित व्योम गंगा-सी
छिटका कर दोनों छोरें
चेतना तरंगिन मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें।

अथवा

जीवन में मृत्यु बसी है
जैसे बिजली हो घन में।

अथवा

विष-प्याली जो पी ली थी
वह मदिरा बनी हृदय में।

अथवा

काली आँखों में कितनी
यौवन के मद की लाली
माणिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली।

यही क्यों,

तिर रही अतृप्ति-जलधि में
नीलम की नाव निराली
काला पानी वेला-सी
है अंजन रेखा काली।

अथवा इसे पढ़िए,

तुम स्पर्श-हीन अनुभव-सी
नन्दन-तमाल के तल से
जग छा दो श्याम लता-सी
तन्द्रा-पल्लव विह्वल से।

*सपनों की सोनजुही सब,*
*बिखरे, यह बन कर तारा*
*सित-सरसिज से भर जावे*
*वह स्वर्गंगा की धारा।*

और

*बाँधा था विधु को किसने*
*इन काली ज़ंजीरों से*
*मणिवाले फणियों का मुख*
*क्या भरा हुआ हीरों से।*

इस तरह जब भी प्रसादने लिखा वे कथनीपर ही नहीं आये उस समय वे सौन्दर्य, आनन्द और समर्पणकी मस्तीमें भरे हुए सम्पूर्ण अपनी पर भी आये।

मैं यह मानता हूँ कि कवि अथवा कलाकार व्यक्तियोंको उठाकर फेंक देता है, घटनाओंके आगे झुकता नहीं। वह केवल विचारोंके जगदीश्वरके सम्मुख व्यक्तिके वैभव और घटनाओंकी उदात्तताको लेकर उपस्थित होता है; इसलिए उसका जीवन अपनी कला-द्वारा व्यक्त विचारों और घटनाओं-की उसके द्वारा की हुई सीकनपर निखर उठता है। जब कलाकार के कहनेके प्रकार और उसके आकारमें दूरी ढूँढ़ी जा सकती है तब उसके गद्य और पद्यमें तो दूरी ढूँढ़ी ही जा सकती है। कविताके समय प्रसाद ऐसे लगते हैं मानो कोई दीवाना काशीके दशाश्वमेघ घाटपर बैठकर सारी काव्य-गंगाको अपने नेत्रोंके द्वारा अपने जीवनपर उतार लेना चाहता है और अन्तरकी मिठास घोलकर उसे अति मीठी कर देना चाहता है, किन्तु जब हम प्रसादका गद्य पढ़ते हैं तब ऐसा लगता है मानो देश-सेवाके लिए आवश्यक व्यापक विवेक उनकी रचनाओंका नियन्त्रण कर रहा है। लगता है प्रतिभाकी गाड़ीको गद्यसे पद्यकी ओर घुमानेके समय अपनेपर ज़ुल्म करनेकी क़ीमत तकपर प्रसाद परिस्थिति और माधुर्यके साथ समान

इनसाफ़ करनेमें यत्न-शील होते थे। इस बातसे कौन हर्षित न होगा कि प्रसादके कथनमें-से सत्यके आर-पार झाँकते हुए अवतरण आप भले ले लें, किन्तु उपदेश कहीं ढूँढ़े नहीं मिलता। लगता है कविता प्रसादकी दृष्टि है, उनका गद्य उनकी सृष्टि। कविता प्रसादका प्यार है, उनका गद्य उनका कर्तव्य। जो जानकारी कलाकार संगृहीत करता है उसे जन-जीवनके प्रति सावधान रहनेकी मनोवृत्तिका इतना पता है कि जानकारियोंके वीभत्स काँटे अपनी अनुभूतिके अंगोंको न गड़ने देनेके लिए अथवा गड़ उठनेपर अपने मुँहसे आह न निकलने देनेके लिए देव-दुर्लभ-सहिष्णुता भी उसके पास है। जो कलाकार घटनाओंको तोड़ते-मरोड़ते हैं वे उन घटनाओंके जानकार पहले होते हैं, तब तोड़ते-मरोड़ते हैं। जानकार अपनी क़लमसे अपने युगकी रक्षा करता है। मानो उस समय वह एक तम्बूका कार्य करता है, किन्तु अपनी करुणाके क्षणोंमें भी कलाकार आनन्दको जन्म देनेकी क्षमता रखता है।

प्रसादको पाते समय चाहे लोगोंको कोई पता न चला हो, किन्तु प्रसादको खोते समय उन्हें ऐसा लगा मानो पृथ्वीके माधुर्य-देशके विशाल महलका एक बलवान् स्तम्भ टूट गया। वादोंमें खड़े होकर नहीं, वादोंसे परे होकर पाठक जान पाता है कि प्रसादका माधुर्य पराजित और असफल नहीं, किन्तु अपने आगेकी स्वस्थ पीढ़ीको काव्यके क्षेत्रमें जगा देनेमें सफल हुआ है। जिसे नहीं देखना था उसे उन्होंने कल्पनासे भी नहीं देखना चाहा! आनन्दको भयंकर कष्टोंमें भी क्षण मात्रके लिए उन्होंने दूर नहीं करना चाहा। प्रसादकी रचनाएँ दर्शनका काव्य नहीं हैं, वे काव्यका दार्शनिक विश्लेषण हैं।

युग पास रहे कि युग दूर रहे वे अभावोंकी पूर्ति करनेकी बजाय भावोंकी पूर्ति करनेमें अधिक तल्लीन रहे। अभावोंकी पूर्ति जो अपने-आप हो जाती सो हो जाती।

नया युग प्रसाद के पास आया, बढ़ा, अमर भी हुआ और एक

ज्योतिसे जलनेवाली दूसरी ज्योतिकी तरह प्रतिभाके खेलकी विविधतामें युगके आवेगों और प्रवेगोंकी दीपावलीका त्यौहार मनाया, किन्तु यह सब कुछ हुआ संस्कृतिकी भाषामें, उपनिषदोंकी वाणीमें। भावोंकी वर्तमानता ही से नहीं भावी तकमें खेलनेवाले प्रसाद व्यवहारके भूतकालपर इतने फ़िदा थे कि जो कुछ उन्होंने लिखा वह अत्यन्त ताज़ा होते हुए भी पुराण-पुरुषकी तरह पवित्र है। सूझ नयी, शब्द-विन्यास नये, प्रकटीकरणका तौर-तरीक़ा नया, पहुँच नयी, किन्तु साँसोंकी तरह विश्वास पुराना! वाणीके बोले हुए युग प्रसादके विश्वासकी वस्तु न थे। वे युगोंकी बोली हुई वाणीको सँवारनेवाले थे।

## सुमित्रानन्दन पन्त

वह तो पक्षी है, उसकी तानमें एक नैसर्गिक विकास है। उषाकी आलोक-भरी आभामें प्रत्येक प्राण गाता है। पर जब उसने गाया था तब सन्ध्याकी उलझन-भरी छाया थी। उसका हृदय छाया-भरी उलझनसे निकलकर चिर प्रकाशके उषालोकमें नाच उठा है।

उसकी पहली तानमें उच्छ्वास, दूसरीमें आँसू और तीसरीमें बेबसीको ग्रन्थि थी। आज वह निराशाके कालेपनके चौथे चिरानन्दके नन्दनवनमें पल्लव-पल्लवपर फुदुक-फुदुककर गा रहा है। सुख और दुःख दोनोंकी अस्थिरताको वह जान चुका है। उसका गुंजन चिरानन्दकी तान है।

उसके गानमें पर्वतका वैभव, निर्झरका शैशव और वनकी मस्ती है। वह विजन वनका राजकुमार स्वर और सौन्दर्यसे हृदय-हृदयमें राज कर रहा है। उसमें मधु है, शराब नहीं; आकर्षण है, तीव्रता नहीं; जिसका अंग-अंग झंकार है, जिसका रोम-रोम कम्पन है, जो रूपका स्वर और स्वरका रूप है।

# सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्राजीका अभाव प्रकृतिके पृष्ठपर ऐसा लगता है मानो नर्मदाको धाराको कोई महाकौशलके अंचलोंमें-से चुराकर ले गया हो और इस निर्मल धाराके बिना तटके पुण्य तीर्थोंके सारे घाट मानो अपना अर्थ और उपयोग खो बैठे हों। लगता है जैसे अभी कलकी ही बात है श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान हमसे हँस रही थीं, खेल रही थीं, लिख रही थीं, बोल रही थीं कि अचानक कालकी कठोर क्रीड़ासे विन्ध्यकी पथरीली टेकड़ियोंकी वह गर्वीली गायिका, झाँसीकी रानीकी तलवारकी तरह प्रान्तके राजनीतिक एवं साहित्यिक क्षितिजपर अद्भुत आभा बिखेरकर अपने जीवनकी चिर-संगिनी नर्मदाकी ओजस्विनी धाराकी भाँति स्मृतियोंकी पावन जलराशिमें लीन हो गयीं।

उपनिषदोंका अमर तत्त्व एक बार अत्याचारपीड़िता गोपियों और अहीरोंकी पुकारसे खिचकर यशोदाके आँगनमें मिट्टीका स्वाद लेने आया और सूरकी बोलियोंको अमर-पद प्रदान कर गया। माँकी बेड़ियोंकी झंकार, संतानोंकी विवशता, समाजके निष्ठुर बन्धनोंमें तड़प उठनेवाले असहाय उपेक्षितोंकी आहें, सुभद्राजीको संघर्षमें खींच लायीं और उनकी यशस्विनी शक्तियाँ मध्य-प्रान्त व हिन्दी-संसारके घर-आँगनमें पूजा, आदर और प्यारकी वस्तु बन गयी। समाजके अछूतों व उपेक्षितोंकी करुणा, उत्पीडनोंकी फ़रियाद लिये, पूजे जानेवाले पाषाणोंसे, पसीजनेकी निष्फल मनुहार कर रही थी कि उनको सहायताके लिए सुभद्राजी भवनसे निकलकर प्रांगणमें गयीं 'यह निर्मम समाजका बन्धन और अधिक अब सह न सकूँगी।'

सोलह-सत्रहकी अल्हड़ उम्रमें अपने सारे आभूषणोंको उतारकर

भारतीय स्वतन्त्रताके सन्देशवाहक बापूको असहयोग कालमें दे देना, सुभद्राजीके लिए जितना सहज था, प्रान्तीय सरकारकी अकड़-भरी चुनौती-को पानी-पानी कर देनेके लिए, नागपुरके झण्डा-सत्याग्रहमें कारागारकी कठिनाइयोंको जीवनका आभूषण बना लेना भी उनके लिए उतना ही आसान था।

संघर्ष सुभद्राजीके लिए जीवनके सजीव पहलूका नाम था। निरंकुशतासे एक बार संघर्षमें उतर पड़नेके बाद वे एकके पश्चात् दूसरी सफलताकी ओर बढ़ती गयीं। गति-पथके फूल और शूल उस अनासक्त प्रतिभाके दायें-बायें बिखरते गये। आज़ादीकी लड़ाई घोरसे घोर होती गयी, किन्तु सुभद्राजीको किसीने पीछेकी क़तारमें कब देखा? सन् १९४०का कठोर आन्दोलन, सुभद्राजी जेलमें। फिर १९४२ की वह आखिरी कशम-कश जिसपर क़ाबू पानेके लिए भारतकी निहत्थी जनता भीषण अत्याचारों और संहार-शस्त्रोंकी शिकार बनायी जा रही थी; भड़कते हुए आगके शोलोंमें विहँसती, जीवनसे निर्द्वन्द्व झाँसीकी रानी, 'वीरोंका कैसा हो वसन्त'के स्वरोंसे लोक जीवनको चिर-झंकृत करनेवाली यह वीर बाला, लोहेके सीखचोंमें क़ैद थी और अपनी कृतियोंसे आज़ादीके बलि-पन्थियोंका रथ-पथ आलोकित और गतिमान कर रही थी।

क़लम, इस क्रान्तिबालाके हाथों पड़ी, यह तृण-शलाका कभी निरुत्साहोंमें प्राण भरती, कभी मूक और विवश जनताके भाग्यपर पड़ने-वाले पत्थरोंपर वज्र बनकर टूटती, कभी झाँसीवाली रानीकी गाथा गाकर शवोंमें शक्ति संचार करती, और जब वह सर्वथा अपने क्षणोंमें होती तो बिखरे स्वर्णकणोंको समेटकर आनेवाली पीढ़ीके भालको सुनहरा बना देने-की तैयारीमें व्यस्त रहती। वह गीत नहीं, जीवन-संगीत लिखती; उसकी पातोंपर कल्पनाके कठोर मोती नहीं, अनुभूतिके 'श्रम कणों'से गीले 'मुकुल' बिखरे होते। उन निधियोंकी आभा सेकसरियाके चाँदीके टुकड़ों-पर नहीं, माँ कहकर मचल पड़नेवाले कुमार-हृदयोंके ममता-भरे आह्वानों-

पर प्रतिबिम्बित होती।

अवसाद, थकन और विषाद श्रीमती सुभद्राकुमारीजी चौहानके जीवनसे सदा अपरिचित रहे। कठोरतम परीक्षामें भी इन्हें मुसकराते ही देखा।

*"मैंने हँसना सीखा है, मैं नहीं जानती रोना,*
*मुझसे मुखरित होता है, मधुवन का कोना कोना।"*

और

*"मैं जिधर निकल जाती हूँ,*
*मधुमास उतर आता है।"*

सुभद्राजीकी ये पंक्तियाँ उनके छन्द-रहित जीवनकी सुन्दर व्याख्या हैं। आज उनके अवसानके पश्चात् उनके गमनसे, वसंत, ग्रीष्म-सा सुखदायी क्यों न लगे। अब तो मानो सुभद्राजीकी ये पंक्तियाँ भी सच होनेको थीं।

*"आओ प्रिय ऋतुराज,*
*किन्तु धीरे से आना।*
*यह है शोकस्थान,*
*यहाँ मत शोर मचाना।"*

इस स्नेहमयी मातृप्रतिमाकी यादगारमें अपनी श्रद्धा और भक्तिके साथ पुनीत स्मृति रूप अभिनन्दनकी ये पंखुड़ियाँ भी,

*"जाओ आज बिदा देते हैं,*
*हम गीली अंजलि देकर।"*

## पुरातत्त्व-ज्ञानका सूर्य

कुछ महीने पहले समाचारपत्रोंमें लोगोंने पढ़ा था कि डॉक्टर काशी-प्रसाद जायसवाल बीमार हैं। उसके थोड़े ही पश्चात् पढ़नेको मिला कि बाबा राहुल सांकृत्यायन अपनी चीन-यात्रा स्थगित कर लौट आये हैं, जायसवालजीकी बीमारी बेक़ाबू हो रही है। यह खबर पढ़ते समय किसने सोचा था कि उसके बाद थोड़ी देर और; और जायसवाल बोलने और स्पर्श करनेकी दुनियासे उठकर केवल यादगार मनानेकी दुनियामें चले जायेंगे! हम आज जो उनकी बीमारीपर चिन्ता प्रकट करते रहे कल इसलिए तड़पते नज़र आयेंगे कि जबतक वह विभूति हड्डी और मांसके ढाँचेमें बन्द रही तबतक एक बार फिर उसके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ न कर पाये! परन्तु समय यदि कहकर, जताकर और हमारे सँभल जानेपर ही आनेकी आदत रखता तो शोक मनानेकी बात ही कहाँ थी?

समयकी निष्ठुरता इससे अधिक क्या हो सकती है कि भारतके अधिकांश प्रान्तोंमें नये शासन-विधानके अनुसार कांग्रेस राज्य स्थापित होनेकी तैयारियोंके साथ होनेवाली हलचलोंकी चहल-पहल, बिहार अभी सम्हाल भी न पाया था कि, अपने कीर्तिमय जीवनके क्षण-क्षण समेटकर, भारतके खण्डहरोंमें, ईंटों, पत्थरों और नाना-प्रकारकी आकृति-प्रकृति रखनेवाले संकेतोंमें सिमिटकर खोयी हुई आर्यावर्तकी गौरव-गरिमाको खोद-खोदकर जगाने और उसे हमारे वर्तमानके साथ समरस कर देनेके एकान्त-व्रती डॉक्टर जायसवाल अपने जीवनकी चादर समेट चले! सुना है, बिहारमें ऐसे तरुणोंकी संख्या कुछ अधिक है जो आवागमनकी सनातन हिन्दू-भावनाको कुसंस्कार मानते हैं; किन्तु यदि आज कोई जायसवालके पुनरागमनके लालचपर उन्हें इस 'कुसंस्कार' को मस्तक झुकानेको कहे तो सम्भव है,

इतने बड़े प्रलोभनकी अवहेलना वे न कर सकें। काश यह सम्भव होता !

जायसवालजीका अवसान केवल छप्पन वर्षकी उम्रमें हो गया। जीवनके आदि-पर्वसे लगाकर स्वर्गारोहण तक इस उद्भट पुरातत्त्ववेत्ताका, अद्वितीयताके साथ कुछ-ऐसा सम्बन्ध रहा कि दोनोंमें-से किसीने किसी-का साथ न छोड़ा। वे पैदा हुए ऐसे बापके घर जो ज़िला मिरज़ापुरमें बाबू महादेवप्रसादके नामसे मशहूर और लाखके सबसे बड़े रोज़गारी। बाल्यकाल मिरज़ापुरमें ही बीता। हाई स्कूलकी सीढ़ियाँ समाप्त होते ही लन्दन भेज दिये गये। वहाँ एम० ए० हुए। चीनी भाषामें विशेषज्ञता प्राप्त की। सन् १९०७–८ में बैरिस्टर होकर भारत लौटे। कलकत्ता विश्वविद्यालयमें भारतीय इतिहासके (प्राचीन इतिहास उनका विषय था।) प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए, परन्तु एक वर्षसे अधिक वहाँ न टिक सके। पटना लौटे और यहीं जम गये। आर्यावर्तकी वैजयन्तीको दिशाओंके ओर-छोर तक फैलानेवाले मगध-नरेशोंकी लीला-भूमि, विदेशी आक्रमण-कारियोंके अहेर करनेमें पटु राजकुमारोंकी प्रत्यंचाघर्षित बाहुओंकी रंग-स्थली और भारतपर शासन करनेवाले श्वेतांगोंके ग्रीसनिवासी पूर्व-पुरुषोंके विजेता चन्द्रगुप्तकी यह महानगरी, डॉक्टर जायसवालको न छोड़ सकी। बिहारके कण-कणमें बिखरे हुए आर्यवीरोंके इतिहासको प्रकाशमें लानेवाला यह अद्वितीय मनीषी, आज जाह्नवी-प्रक्षालित उसी पवित्र-भूमि-पर, स्वयं इतिहास बनकर अमर हो गया !

भारतकी गोदमें जायसवाल युगकी धरोहर बनकर आये थे। वे निर्माता थे। हिन्दुओंके प्राचीन इतिहासके नामसे जो कूड़ा-कर्कट, भार-तीय विद्यार्थियोंके सामने फैल रहा था, जायसवालजीने उसकी एक ओरसे सफ़ाई शुरू की। पहले तो आपके सिद्धान्तोंकी कड़ी आलोचनाएँ हुईं, किन्तु मैदान जायसवालजीके साथ रहा। उनके निश्चित मतोंको स्वीकार कर युगके विद्वानोंको अपने मत और विचारोंके मत बदलने पड़े।

सन् १५०से लगाकर सन् ३५० तकके दो-सौ वर्ष भारतीय इतिहास-

के 'तिमिर काल'के नामसे प्रसिद्ध हैं। सन् १९३३में प्रकाशित अपनी एक पुस्तकमें जायसवालजीने इस तिमिर कालपर क्रमबद्ध प्रकाश डाला। इसके पश्चात् भारतीय इतिहासपर सम्भवतः जीवन-कालमें उनकी अन्तिम पुस्तक 'इम्पीरियल हिस्ट्री आफ़ इण्डिया' के नामसे प्रकाशित हुई।

जायसवालजीने जो कुछ लिखा वह सीमाकी प्रामाणिकताके साथ लिखा। उनकी लेखनीमें मन्त्रद्रष्टाकी-सी सूक्ष्मता, शब्दोंमें विचारोंको ठेलकर जगा देनेवाली प्रेरणा, और विचारोंमें स्वयं गंगाकी गहराई मौजूद थी। जायसवाल जब लिखने बैठते तो मानो उनकी उँगलियाँ अतीतके सूत्रोंके साथ वर्तमान और भविष्यके ताने-बाने जोड़नेमें व्यस्त हो जातीं; किन्तु उनका प्रामाणिक और समालोचक मस्तिष्क तबतक किसी भी विचारको सूत्रके रूपमें काग़ज़पर उतर आने और वर्तमान तथा भावी पीढ़ीकी पावन धरोहर बन जाने देनेको तैयार न होता, जबतक उनकी पैनी अन्तर्दृष्टि उसमें अशोक-स्तम्भकी भाँति अटल, बौद्ध-धर्मकी तरह विस्तृत और सत्यके समान चिरन्तन निधि न देख लेता! लौकिक काया-मायाके बन्धनोंसे परे होते हुए भी जायसवाल अपनी कृतियोंके रूपमें हमारे बीच उपस्थित हैं—अमर हैं!

# ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान

वीरव्रती ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी चौहान अब इस संसारमें नहीं रहे। उनका जन्म खण्डवामें, शिक्षण आगरा और प्रयागमें, जीवन-यापन और देहावसान जबलपुरमें हुआ। सन् १८९४में जन्म लेकर ठाकुर लक्ष्मण-सिंहने विविध क्षेत्रोंमें इतनी और ऐसी अनुपम देश-सेवा की कि यदि वे धन-परिचालित युग और गुलाम देशमें पैदा न हुए होते तो देश-भक्त, क्रान्ति-वादी, समाज-सेवक, कांग्रेसी, ग्रन्थकार, नाटककार, कवि, और निपुण पिस्तौल चलानेवाले तथा अन्तमें सत्याग्रहीके नाते उनकी कीर्ति देश-व्याप्त हुई होती। देश और समाजकी विरोधिनी शक्तियोंसे लोहा लेना और लड़ते-लड़ते काम आ जाना, इस प्रान्तके दो ठाकुरोंके स्वभावका यही बाना रहा— ठाकुर लक्ष्मणसिंह और निरंजनसिंह। इन दोका नाम इसलिए ले रहा हूँ कि क्रान्तिवादी-दलमें इस प्रान्तके केवल इन्हीं दो ठाकुरोंने अपनी सेवाएँ लगायी थीं।

जब ठाकुर लक्ष्मणसिंह खण्डवाके हाई स्कूलमें पढ़ते थे, तबसे वे केवल इसलिए अपनी पारिवारिक कठिनाइयोंकी बात किसीसे न कहते थे कि वे तिरस्कारके सज्जन स्वरूप दयाको, किसीकी बरसनेवाली दयाको, सह नहीं सकते थे। सन् १९११ में एक दिन प्रातःकाल लक्ष्मणसिंह मेरे घर आये और मेरी पत्नीसे बोले, "भौजी, यह लो चिरौंजीदाने, प्रसाद बाँट रहा हूँ.....।" मैंने बीचमें ही टोककर पूछा, "काहेका प्रसाद है रे; क्यों उसे तंग करता है?" वह बोले, "जी, चिरौंजीदानेका प्रसाद है। आज मैट्रिकका परीक्षाफल आ गया है और मैं फेल,हो गया हूँ।" मैंने चिढ़कर कहा, "भाग यहांसे; यह अपनी असफलताका प्रसाद आप बांट रहे हैं।" त्योरी चढ़ाकर बेमूँछोंके नन्हें-मुन्हें लक्ष्मणने कहा, "जी हाँ, यह असफलता अब

फिरसे मेरे घर नहीं आ सकेगी; इसलिए जिन्दगीमें एक बार घर आये हुए मेहमानके आगमनकी खुशी मना रहा हूँ।" और सचमुच जीवनमें उसके बाद लक्ष्मणसिंह कभी परीक्षामें फेल न हुए यद्यपि उनका शिक्षण भयंकर दारिद्र्यमें हुआ।

लक्ष्मण कविता लिखा करते थे। बहुत अच्छी लिखते थे। मैं उन दिनों खण्डवासे 'प्रभा' नामक मासिक पत्रिका चलाया करता था! लक्ष्मण जब कविता लिखते निर्भीकताकी मात्रा सदैव ही क़ानूनके बन्धनोंको लाँघ जाया करती। रचनाएँ राजद्रोही हो जातीं। मैं उनकी पंक्तियोंमें कुछ थोड़ा परिवर्तन करके 'प्रभा' में छाप देता। उन दिनों लक्ष्मण आगरा कॉलेजमें पढ़ते थे। यह सन् १९१३–१४ की बात है। मैं वृन्दावनके गुरुकुल उत्सवमें जाते हुए, लक्ष्मणसिंहके पास 'बोर्डिङ्'में ठहरा। मैंने उसके पास 'प्रभा'का वह अंक देखा, जिसमें आस-पासकी सब छपाई सुरक्षित छोड़कर अपने नामकी कविता पूरी-की-पूरी काटकर फेंक दी गयी थी। गुरुताका बोझीला मैं, मैंने लक्ष्मणको पढ़ाया था। कुछ त्यौरी चढ़ाकर मैंने 'प्रभा' के पृष्ठपर-से कविता काट फेंकनेका ठाकुर लक्ष्मणसिंहसे कारण पूछा। लक्ष्मणसिंहकी आँखोंमें आँसू आ गये। बोले, "दादा, मुझे पुरस्कार दीजिए। कविता छापनेमें राजद्रोह होता है; उसे काटकर फेंक देनेमें तो नहीं होता?" मैं गर्वसे भर गया और उठकर अपने गलेके उभरनेसे उनके आँसू पोंछ दिये और फिर मैंने अपने आँसू भी पोंछ लिये।

आगरा कॉलेजमें पढ़ते हुए ठाकुर लक्ष्मणसिंहने 'कुली प्रथा' नामक एक नाटक लिखा। गरमियोंकी छुट्टियोंमें जब लक्ष्मणसिंह खण्डवा आये, तब वह नाटक मुझे देकर गये। मेरी पत्नीने उसे सहेजकर रख लिया। देवदारके पटियोंकी एक छोटी-सी पेटी ही मेरी लिखी हुई तुकी-बेतुकी चीज़ोंका छोटा-सा खज़ाना था। उसपर पौन आनेका ताला लगा था और उसकी चाबी मेरी जनेऊमें बँधी रहती थी। जब मैं उस पेटीके पास बैठता तब मेरी पत्नी और माता दोनों मुझसे बहुत नाराज़ होतीं। मैं माँसे बहुत

डरता था। उनका सन्देह था कि इस पेटीमें मैं कुछ ऐसी चीज़ें लिख-लिखकर रखता हूँ जिसके कारण मुझे बार-बार पुलिस चौकी बुलाया जाता है। और इस तरह मैं अपने पिता और परिवारके नामपर कलंक लगाता हूँ। छपी किताबों और अखबारोंको तो माताजी चूल्हेमें जला दिया करती थीं। कितनी क़ीमती किताबें वे जला चुकी थीं, अपने बेटेको किसी आफ़त-में पड़ जानेसे बचानेके लिए।

लोकमान्य तिलक उन दिनों माण्डले जेलमें कालेपानीकी सजा काट रहे थे। कांग्रेस नरमदलके हाथमें थी। सन् १९१३ की बात है जब श्री सत्येन्द्रप्रसन्न सिंह (पश्चात् लार्ड सिन्हा) कांग्रेसके अध्यक्ष थे। उसी समय हिन्दुस्तान रिपब्लिकन कन्वेन्सन (क्रान्तिवादियों)की बम्बईमें बैठक थी। मैं बम्बई गया था। मेरी ग़ैरहाजिरीमें हिन्दी जगत्के साहसके युग-निर्माता भाई गणेशशंकर 'विद्यार्थी' खण्डवा आये। चूँकि वे हमारे यहाँ पहले दो बार आ चुके थे। मेरी पत्नीने उनका स्वागत किया। गणेशजी और मेरी पत्नीकी सलाहसे मेरी पेटीका ताला टूटा और उसमेंका खज़ाना लूटा गया। गणेशजी अन्य काग़ज़ोंके साथ ठाकुर लक्ष्मणसिंहका नाटक 'कुली प्रथा' ले गये। नाटकपर लेखकका नाम 'रामानुज' लिखा गया था। नाटक कितने ही अंकों तक, प्रतापमें छपता रहा और 'प्रताप' को उसके लिए दण्डस्वरूप एक बड़ी जमानतकी रक़म भरनी पड़ी। जब 'कर्मवीर' जबलपुरसे निकला तब उसके प्रथम सहायक सम्पादक ठाकुर लक्ष्मणसिंह थे। इस प्रान्तके लोग सन् १९२० से सन् १९२२ तक तीन वर्षोंके 'कर्म-वीर' की लिखावटके जिस चमत्कारको याद रखे हुए हैं वह चमत्कार ठाकुर लक्ष्मणसिंहकी लेखनीका था। जब महाकौशलमें प्रथम कांग्रेस बनी और उसके पश्चात् जब चुनाव होकर कांग्रेसका यथाक्रम निर्माण हुआ, तो उसके प्रथम मन्त्रियोंमें साधूराव केशव, रामचन्द्र खाण्डेकर और ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान थे।

स्वर्गीया सुभद्राकुमारीका लक्ष्मणके घर वधू बनकर आना लक्ष्मणके

जीवनकी प्रधान घटना थी। सुभद्राके लिए लक्ष्मणने अपनी कविताका बलिदान कर दिया। कैसे भले थे वे दिन। दोनों साहित्य लिखते, दोनों भाषण करते। दोनों जेल जाते और राजनीतिक अवसरवादिताके हाथों दोनों ही कुटिलतापूर्वक पीसे जाते। ऐसा लगता है मानो मरण इन दोनोंके जीवनसे हार गया। इस प्रान्तमें ऐसा कोई आन्दोलन नहीं हुआ, जिसमें लक्ष्मणसिंह अपनी वलि देनेसे वंचित रहे हों। कैसी मीठी हैं ये बहादुर ज़िन्दगियाँ जो टूट गयीं पर झुकी नहीं। इन अनगिनत संस्मरणों-को लेकर इनका बोझ ढोना-भर बाक़ी रह गया है। ये संस्मरण इतने प्यारे हैं, किन्तु इतने अधिक हैं कि मैं कैसे इन्हें कालमोंकी सीमामें बाँधूँ? यदि स्थानीयत्वके अभिशापसे परे, जीवनको देखनेवाली आँखें लक्ष्मण और सुभद्राके महान् जीवनको देखें तो सुभद्राकुमारी चौहान और लक्ष्मण-सिंह चौहान जीवनके प्रतिभाशाली और कष्ट-सहीले युगके ऐसे उज्ज्वल उदाहरण हैं, जिन्हें पाकर युग भाग्यवान् हुआ करते हैं।

क्रोधमें भी लक्ष्मणका विनोद आश्चर्यजनक रहता था। एक बार एक सज्जन रेलमें लक्ष्मणसिंहसे झगड़ पड़े और उनकी तरफ़ अँगुली बता-बता-कर गालियाँ देने लगे। अत्यन्त शान्तिसे लक्ष्मणसिंह बोले, "महाशय, अब मुझे विश्वास हो गया कि मैं आइनेसे बना हुआ हूँ" शेष मित्र यह जवाब सुनते ही ठहाका मारकर हँस पड़े और गाली देनेवाले महाशय वहाँसे चले गये।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहानको खोकर, हिन्दी-जगत् और जबलपुर तथा इस प्रान्तने बहुत खोया था। ठाकुर लक्ष्मणसिंहको खोकर पुरुषार्थके साथ हमने सुभद्राकुमारीके संस्मरण-मन्दिरका स्वर्णकलश खो दिया। मुझे तो लक्ष्मण और सुभद्रा अभी भी ऐसे लगते हैं कि वे यहीं कहीं हैं और जाने वे किस ट्रेनसे उतरकर चले आयेंगे। गणेशजी जब लक्ष्मणपर बहुत प्रसन्न होते और लक्ष्मणके व्यंग्य और सूझपर निहाल हो-हो उठते तो कहते, "लक्ष्मण, तुम बड़े दुष्ट हो।" नन्हें-नन्हें बच्चोंको अचानक छोड़कर

जाते हुए लक्ष्मणको, इसी वाक्यमें उलाहना देनेकी आज मेरी तबीयत होती है। लक्ष्मण गये। मैं जानता हूँ उनके स्थान तक अँगुलियाँ नहीं पहुँचायी जा सकतीं, किन्तु यादें बराबर पहुँच रही हैं। खुली आँखोंमें एक बार लक्ष्मणको देख पानेकी ललक विधवा हो गयी, किन्तु वन्द आँखोंके बन्दीगृहमें वह अपने समस्त वैभवके साथ निरन्तर घूम रहे हैं। पीढ़ी उस दिन कोई ऋण न चुका सकी, जब लक्ष्मण और सुभद्रा हमारे बीचमें थे, किन्तु विदा होकर आपदाओंका यह विद्रोही राजकुमार, प्रभुता, प्रतिभा और पुरुषार्थकी डोरीपर झूलता दीखे, तो गर्व हो कि ये पीढ़ियाँ हमारी ही पीढ़ियाँ हैं। जो लोग विद्रोही राजनीतिमें पड़े, उनके स्वभावमें कुछ ऐसा वेझुकापन आ गया कि वे झुकने और झुकाने तथा समझौता करनेकी राजनीतिमें उतने ही नीचेपर न उतर सके, जितने नीचेपर उन दिशाओंकी सफलता निवास करती दिखायी जाती हैं; तो भी साहस, त्याग और ग़रीब ज़िन्दगी वितानेकी परम्परामें लक्ष्मणसिंहने अँगुलियोंपर गिनी जाने-वाली मर्दुमशुमारीमें अपने अस्तित्वके दो अंक बहुत सुनहले बढ़ाये हैं। एक बार लक्ष्मण और सुभद्रा दोनोंके साथ-साथ आन्दोलनमें पड़ जानेके पश्चात् विलासपुर जेलमें मैंने एक तुकबन्दी लिखी थी,

*एक पर एक मर मिटो क़िन्तु,*
*रहे निज विमल टेक की याद,*
*प्रणों के पथ में पाते रहो,*
*जीवनाधिप के जी का स्वाद।*
*झुके हो दोनों दोनों ओर,*
*ठगे-से हिल मिल झुकते रहो,*
*उभड़ने न दो हृदय की आग,*
*पथ पर रुकते रहो।*
*उठा दो वे चारों कर कंज,*
*समय को लो छिगुनी पर तान*

*और मैं करनेको चल पड़ूँ,*
*तुम्हारी मधुर मूर्ति का ध्यान।*

१८ सितम्बर सन् १९२१ को बिलासपुर जेलमें यह तुकवन्दी लिखी गयी थी, जब कि लक्ष्मणसिंह और सुभद्राकुमारी दोनों गान्धीजीके झण्डेके तले असहयोग आन्दोलनमें भरपूर जुटे हुए थे। मुझे नहीं मालूम था कि सितम्बरके इसी अभागे महीनेमें मुझे अपनेसे उम्रमें छोटे अपने लाड़ले लक्ष्मणके लिए यह शोकांजलि भी लिखनी पड़ेगी। लक्ष्मणको यादको मेरे ये आँसू और चि० अजय तथा बेटे-बेटियोंको मुझ बूढ़ेके असहाय आशीर्वाद। मैं जानता हूँ मैं कहकर भी कुछ न कह पाया और कहनेको बहुत बाक़ी रह गया।

## अमर शहीद भगतसिंह

भगतसिंहको जीनेकी इच्छा नहीं थी। उन्होंने माफ़ी माँगनेसे इनकार कर दिया। जीते रहनेको भी वे दूसरोंके लिए ही तैयार हो गये थे; इस दृष्टिसे कि उनकी मृत्युसे आवेश-में आकर कोई खून न कर डाले। भगतसिंह अहिंसाके पुजारी न थे, परन्तु हिंसाको भी धर्म नहीं मानते थे। लाचारीसे ही खून करनेको तैयार थे। उनका अन्तिम पत्र था—"मैं तो लड़ते समय रणक्षेत्रमें पकड़ा गया हूँ। मुझे फाँसी नहीं दी जा सकती। मुझे या तो तोपके मुँहपर खड़ाकर उड़ा दो या गोली मार दो।" इन वीरोंने मृत्यु-भयको भी जीत लिया था। उनकी वीरताके लिए उन्हें हज़ार बार बधाई।

*—महात्मा गान्धी*

उसकी आत्मा वह चिनगारी थी जिसने सारे देशको आलोकित कर दिया। वह भारतको गुलामीकी श्रृंखलाओंमें जकड़े नहीं देख सकता था। भारतके लिए उसका प्रेम अथाह था। भारतकी स्वाधीनताके लिए वह अत्यन्त आतुर था।

*—जवाहरलाल नेहरू*

भगतसिंह, देश-कार्यमें अपनेको मिटा डालनेकी लगन रखनेवाले, भारतीय क्रान्तिकारियोंके प्रथम युगके उपासक और प्रवर्त्तक एवं १९०७ में लाला लाजपतरायके साथ देश-निकालेकी सज़ा पानेवाले सरदार अजितसिंहके छोटे भाई सरदार किशनसिंहके पुत्र थे। सरदार किशनसिंह भी भगतसिंह-के बैठे-ठाले पिता न थे। सत्याग्रहकी हलचलमें वे हँसते-हँसते जेल जानेके उपासक रहे। इस प्रकारका वीर-रक्त जिसकी मतवाली धमनियोंमें दौड़

रहा था, वह भगतसिंह भारतकी विदेशी सरकार-द्वारा २३ मार्च १९३१की शामको शूलीपर चढ़ा दिया गया।

जिस समय भारतकी उठती हुई जवानी अपने काले कन्धोंपर गोरी प्रभुताके बोझसे मस्तक झुका देती थी, उस समय भगतसिंह आसमानकी तरफ़ देखकर ओठ चबाने लगता। भगतसिंहको दुनियाकी आंखोंमें सुखी और इज़्ज़तदार देखनेके लिए इस सम्पन्न परिवारके कुटुम्बियों और स्वयं भगतसिंहके पिताने भगतसिंहकी शादी रणजीतसिंहके खानदानकी एक लड़कीसे करना तय किया; परन्तु भगतसिंहकी जवानी तो समुद्रकी नीली लहरोंसे धुलनेवाले भारतके चरणोंपर चढ़कर अपनी मस्ती खो चुकी थी। बेड़ियोंकी झंकारोंमें विपञ्चीकी मूर्च्छना सुननेवाला यह तरुण विवाहकी तैयारियोंपर लात मारकर फ़रार हो गया। दो साल तक बाहरी दुनियाको उसका पता नहीं लगा।

थोड़े दिनों बाद साइमन-कमीशन बना। भगतसिंहने कलेजा थामकर देखा। गोरी पलटन कालोंका भाग्य लिखने आयी। उसके चंचल तरुण मनने सोचा, 'क्या हमारा ही भाग्य हम लिखनेके लिए ना-लायक़?' उस समय देशका अनुयायी होनेकी अपेक्षा अपने-आपका अनुयायी होना उसने अधिक मूल्यवान् समझा! विवेककी ये ही सीमाएँ हैं, जिन्हें वेदना और अपमानके अतिरेकमें तरुणाई लाँघ बैठती है। उसका हृदय साइमन-कमीशन-के दौड़-धूपके अपमानसे भर रहा था, पर अभी आखिरी चोट लगना बाक़ी था। साइमन-कमीशनके विरोधके जुलूसमें कष्ट-भोगी भारतीय नेता पंजाब-केसरी लाला लाजपतरायका जाना और बूढ़ी उम्रमें पुलिसके हाथों लाठियाँ खाना, हिमालयसे हिन्द महासागर तकके तरुणोंको बेक़ाबू कर देनेवाली घटना थी। उस समय देहलीकी सभामें लाठी खाकर कराहते हुए लाला-जीके मुँहसे निकला था कि 'ये लाठियाँ मुझपर नहीं, ये तो ब्रिटिश साम्राज्य-पर पड़ी हैं। अगर इस और ऐसी अन्य घटनाओंसे हमारे तरुण हमारे हाथसे बाहर हो जायें तो इसकी जिम्मेवारी सरकारपर होगी।" स्वर्गीय देशबन्धु

चितरंजनदासकी धर्म-पत्नी श्रीमती बासन्ती देवीने, लालाजीके पिटनेपर समस्त देशकी तरुणाईपर लानत भेजी थी। उस समय देशके इन नेताओंने, भारतीय तरुणाईसे क़ुरबानीकी ही उम्मीद की होगी, न कि उनके बम फेंकने और हाथ चला उठनेकी। किन्तु बूढ़ी गम्भीरताका नाम तो तरुणाई नहीं है। उन्होंने अपना दूसरा ही पथ पकड़ा और जो पथ पकड़ा उसके कारणोंको उन्होंने खुले विश्वके सामने रख दिया। यद्यपि देश तरुणोंको अहिंसाके क्षेत्रमें तैयारीके साथ आमन्त्रण कर रहा था, तथापि धैर्य मानो इन पथ-भूलोंकी उपेक्षणीय वस्तु थी।

## बलिदानकी तैयारी

१७ दिसम्बर सन् १९२८ को गोली चली और श्री जे० पी० साण्डर्स गोलीसे बींध दिया गया। मुन्शी चननसिंहको गोली चलानी पड़ी। चननसिंह स्वयं भी गोली खाकर मृत्युगामी हुए। इस तरह साइमन-सप्तकके निर्माण-की वेदीपर इन दो—अंगरेज़ और भारतीयका खून चढ़ा। जिन तरुणोंने गोली चलायी थी उन्होंने देशके अहिंसा-व्रतकी परवाह न कर, ख़ूनका वदला ख़ूनसे लेनेके अपने क्रान्तिकारी व्रतको पूरा किया। पुलिस इतनी होशियार कि एक साल तक अपराधियोंका पता न लगा सकी। इसके बाद उसने चाहे जिस तरुणको, चाहे जहाँ, जिस सन्देहपर गिरफ़्तार करके अपनी अक़्लका परिचय दिया। उस समय उन गिरफ़्तारियोंमें सन्देह ही अपराध था। इसके बाद ४ अप्रैल १९२९ को असेम्बलीकी गद्दीको धन्य करनेवाले प्रेसिडेण्ट पटेल सरकारकी धाँधलीवाज़ीके परिणाम पब्लिक सेफ्टी बिल (जन-रक्षा-क़ानून) पर अपना वक्तव्य देकर भारतीय शासनकी वैध कार्य-प्रणालीमें बूढ़े होकर भी जब एक नयी छलांग भरने जा रहे थे, तभी मानो भारतीय बुढ़ापेके इस तरुणका स्वागत करनेके लिए असेम्बलीके फ़र्शपर एक धड़ाका हुआ। जिस समय अपराधीको पकड़नेके लिए अटकलें लगायी जाने लगीं उसी समय अपने-आप पुलिसके सामने जाकर भगतसिंहने कहा,

"संसारके बहरोंके कान खोलनेके लिए मैंने बम फेंका है। यह है मेरी पिस्तौल। आप मुझे शौक़से गिरफ़्तार कर सकते हैं।" बहरोंको आवाज़ देनेवाले इस तरुणको और उसके मतवाले साथीको थोड़े दिनों बाद क़ानून-का प्रसाद मिला। बटुकेश्वर काले पानीकी कड़वी घूँट पीने चला और भगतसिंह अपनी तक़दीरके नये पट-परिवर्तनोंका सामना करने—अर्थात् सरकार-द्वारा चलाये जानेवाले नये मुक़दमेके अभियुक्त बनकर लाहौर जेल-में चले गये।

## यतीन्द्रकी शहादत

राष्ट्रीयतापर प्राणोंकी बाज़ी चढ़ा देनेवाले इन तरुणोंको लाहौर जेलमें एक नया खिलवाड़ मिला। जिस तरह रत्नोंसे जड़ी सोनेकी अँगूठी बनाने-वाला सुनार किसी मचलते हुए बालकके कानोंकी बालियाँ सुधार देनेकी धुनमें, थोड़ी देरके लिए अँगूठी अलग रख देता है, वैसे ही इन पगलोंकी मण्डलीने जेलके राज-बन्दियोंपर होनेवाले दुर्व्यवहारोंको दूर करनेके लिए लाहौर जेलमें १५ जून १९२९ से अनशन प्रारम्भ किया। एक-दो दिन नहीं, पखवाड़े और महीने बीतने लगे। उपवास जारी रहा। राष्ट्रीयताकी जग-मगाती हुई कलियाँ मुरझाने लगीं। उधर सरकार अपनी क्रूरतापर अटल थी। देखते-देखते २३ दिसम्बरको तरुण क्रान्तिकारी यतीन्द्र परलोक सिधारा। सरकारने समझा कि बस अब इन शरारती छोकरोंके होश ठिकाने लग जायेंगे। परन्तु इधर तो मौतको प्रेमीकी तरह गले लगानेकी हवस थी। अन्तमें भारतकी तरुण दृढ़तापर ब्रिटेनका फ़ौलादी पंजा ढीला पड़ा। राजनीतिक क़ैदियोंके दर्जे बने और उन्हें सुख-सुविधाएं देनेकी सरकारने प्रतिज्ञा की।

इधर भारतीय तरुणाई उपवासके आँगनमें मौतको आमन्त्रण दे रही थी, उधर भारतका फ़ौजदारी क़ानून, अपने जीवनके इतिहासके एक नये परिच्छेदमें काला रंग भर रहा था। उसे मानो इन तरुणोंसे रस्सा-खिंचाई

खेलनी थी। महोनों उपवासके बाद एवं सरकार-द्वारा दी गयी टकसाली यन्त्रणाओंके भोगनेके बाद जब ये तरुण अपने मुक़दमेके लिए अदालतमें उपस्थित न हो सके तब एक नये आर्डिनेन्स-द्वारा यह क़ानून बनाया गया कि अभियुक्तको ग़ैरहाज़िरीमें भी मैजिस्ट्रेट एक वकीलकी सहायतासे अभियुक्तके दोषोंपर विचार कर सकता है और अपना फ़ैसला दे सकता है। सभ्यता और न्यायके मुँहपर क़ानूनकी यह सफ़ेदी लपेटकर इन अभियुक्तोंका फ़ैसला किया—सरदार भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेवको फाँसीकी सज़ा दी गयी।

## माताके चरणोंमें भट

अहिंसाकी लहर हिंसाकी कालिख पोंछनेमें व्यस्त थी। बीसवीं सदीके प्राण-घातक साधनोंपर बैठकर आधीसे अधिक दुनियाकी लगाम खींचनेवाली ब्रिटानिया शान्त और ठण्डी बूँदोंकी ताक़तको पत्थरोंकी चहारदीवारीमें अधिक देर बन्द न रख सकी। वह काँप रही थी। व्हाइट हॉउस और देहलीने यरवदाकी देहरीपर मस्तक झुकाया। बालूसे तेल निकालनेवाले आशावादियोंने सोचा, भगतसिंह बच गया। भारतके नौनिहालोंको जल्लादकी रस्सी इस बार नहीं छू सकेगी। पर ये सपने ही रहे। इधर शान्तिका शंख बज रहा था उधर हमारी दयनीय विवशताको ठोकर लगाते हुए देहलीकी प्रतिहिंसाने गरजकर कहा, "भगत, राजगुरु और सुखदेव क़ानूनके शिकार हैं। आज़ाद अँगरेज़के खूनके सन्देहपर गिरफ़्तार होनेवाले अभागे क़ैदीको कोई ताक़त नहीं बचा सकती। २३ मार्च १९३१ आखिरी दिन है।"

कातिलकी छुरीके नीचे तड़फते हुए बच्चेको देखकर लाचार गायकी तरह अभागिनी माताने एक ठण्डी आह खींची और फिर देखती रह गयी। भारतीय तरुणाईने मचलकर प्रार्थना की,

*"जननी जन तो भगत जन*
*यों दाता यों शूर।"*

भगतसिंहकी उम्र तेईस-चौबीस की थी। सन् १९२१में उन्होंने लाहौरके डी०ए०वी० स्कूलका परित्याग असहयोग आन्दोलनकी लहरमें किया था। भगतसिंहके दादा बाबा सरदार अर्जुनसिंहने अपने दो 'सिंह' अजित और सुवर्णको मातृवेदीपर १९०८में जेलमें दान किया। भगतसिंह, उनका पोता उस परिवारकी ओरसे दिया गया तीसरा उपहार था।

# रवीन्द्रनाथ ठाकुर

चिन्तकप्रवर काका कालेलकरने एक बार रवि ठाकुरकी कविता पढ़कर अपने कथ्यको इस तरह उपस्थित किया था,

"कली बोली, "प्यारे फल तुम कहाँ हो; कितनी दूर हो ?"

"फलने अन्तरहृदयमें-से पुकारकर कहा, "देवि, मैं तो तुम्हारे ही हृदयमें निवास करता हूँ, तुम्हारे पास ही हूँ।"

रवि ठाकुरने अपनी किसी गद्य-पुस्तकमें एक उपमा देते हुए कहा था, "नावमें बैठा हुआ केवल वही अपराधी नहीं है जिसने उस चलती नौकामें छेद कर दिया और पानीका नावमें भरना सुगम कर दिया, किन्तु वह भी अपराधी है जो बढ़ते हुए पानीको जल्दी-जल्दी फेंक नहीं देता और अपनी तथा साथियोंकी रक्षामें जुट नहीं पड़ता।" लगता है गुरुवर रवि ठाकुर इस महान् देशकी परिभाषा लिखते थे और गान्धीजी परिभाषाके उदाहरण उपस्थित करते थे।

रवि ठाकुरने जाति, भाषा और सम्प्रदायके छोटे-छोटे भेदोंको पार कर लिया था। कदाचित् इसीलिए भारतवर्षने अपना राष्ट्रीय गान गुरुदेवके 'जन-गण-मन' गीतको बनाया और कदाचित् यही कारण है कि रवि ठाकुर-की ग़ैरहाज़िरीमें स्वराज्य मिलनेपर उनके विश्व भारती नामक शैक्षणिक विश्वविद्यालयने अपना उपकुलपति स्वतन्त्र भारतके प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरूको चुना।

रवि ठाकुरको पहले-पहल, बहुत निकटसे मैंने भरतपुरके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनमें देखा था। सम्मेलनके सभापति प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा थे। भरतपुर राज्यके बड़े-बड़े सामन्त सभामें उपस्थित थे। उस सभामें स्वर्गीय राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन भी विद्यमान

थे। रवि ठाकुर रेशमी लवादा पहने हुए थे। उनकी दाढ़ीके बालोंने शुभ्रताकी ओर ज़ोर-शोरसे क़दम बढ़ाया था और उनकी आँखोंके तेजस्वी पानीमें स्वतन्त्र भारतका उज्ज्वल भविष्य खेल रहा था। वे मखमल-जैसे कोमल शब्द बोल रहे थे। उन शब्दोंमें फूलों-जैसी सुगन्ध, पत्तों-जैसा हरियालापन और फलों-सा मीठा स्वाद अनुभव कर लोग गद्गद हो रहे थे। जब मैं उन शब्दोंको सुन रहा था तब मेरे पास अमरशहीद गणेशशंकर 'विद्यार्थी', आचार्य सद्गुरुशरण अवस्थी, श्री हीरालालजी खन्ना तथा श्रीमती कमलाबाई साहिबा किबे, श्रीमान् किबे साहब तथा अन्य कितने ही सज्जन बैठे थे। गुरुदेवको उस समय वाणी वरदानकी तरह प्राप्त थी। शब्द मानो तीखे तीरोंकी तरह लक्ष्य-भेद करते हुए निकल रहे थे।

श्रीमती कमलाबाई साहिबा किबे उन शब्दोंमें विशेष रस ले रही थीं क्योंकि उन्होंने अपने भाषणमें उस सम्मेलनमें कहा था, "हम नारियाँ हाथोंमें चूड़ियाँ पहनती हैं और सदैव एक मात्र अपने पतिकी बनकर रहती हैं। जाने इस चूड़ीदार पैंजामे-में क्या है कि जिस पुरुषने भी पहना कि वह बहुतोंके सामने झुकनेवाला हो जाता है।" यह अलगसे कहना आवश्यक नहीं है कि श्रीमती कमलाबाई साहिबाके पति श्रीमन्त सरदार किबे साहब उन दिनों इन्दौरके डिप्टी प्राइम् मिनिस्टर थे।

रवि ठाकुर अपनी पोशाकमें बहुत भले मालूम होते थे। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उनका परिवेश अधिक चमकीला था या उनके शब्द। वे वीणा-विनिन्दित शब्दोंमें अपनी बात कहे जा रहे थे और श्रोता उन लहरियोंमें डूब-से गये थे।

एक बार, मैंने गुरुदेवको कदाचित् सन् १९३२ में शान्ति-निकेतनके उत्तरायणमें देखा था। मैं भाई बनारसीदासजी चतुर्वेदीके आमन्त्रणपर, अनेक हिन्दी-भाषी लेखकोंके साथ, शान्ति-निकेतन गया था। कलकत्तासे हम लोग किसी पैसिन्जर ट्रेनमें गये थे, जो शान्ति-निकेतन विद्यालयके बोलपुर नामक स्टेशनपर लगभग दस-ग्यारह बजे पहुँचती थी। रेलवे स्टेशनपर हमें

यथास्थान पहुँचा देनेवाले मित्र उपस्थित थे। ज्यों ही शान्ति-निकेतनकी सीमामें मैंने प्रवेश किया, मुझे प्रारम्भमें कुछ निराशा-सी हुई। न तो वहाँ किसी नदीका तट था, न विन्ध्या और सतपुड़ाके-से जंगल थे, न शिखरोंपर चढ़ती-सी सड़कें थीं, न शिखरोंसे उतरती हुई पगडण्डियाँ ही दिखायी दी थीं। किन्तु थोड़ी ही देरमें मेरा मन हज़ारों वर्ष पीछे पहुँच गया और मैं भारतके स्वर्णयुगको अपने सम्मुख देखने लगा। छोटे-छोटे झोंपड़े, मिट्टीकी दीवारोंवाले और उन दीवारोंपर महाभारत और रामायण कालकी तथा बुद्ध जातकोंकी घटनाओंके चित्र बने हुए थे। झोंपड़ीके द्वारपर उपनिषद्का वाक्य देखकर मेरा मन गद्गद हो उठा। थोड़ी ही दूर आगे मैंने शान्ति-निकेतनका क्लास-रूम देखा जो एक वृक्षके नीचे था। अपनी-अपनी मर्यादाकी सम्पूर्ण रक्षा करते हुए लड़के और लड़कियाँ वहाँ उपस्थित थे। अपने अर्ध-वृत्ताकार विद्यार्थियोंमें केन्द्रमें बैठे हुए अध्यापक बड़े ही भले मालूम होते थे। लगता था, ये प्राध्यापक उन प्राध्यापकोंसे भिन्न हैं जो कॉलेजों या विश्वविद्यालयोंमें पढ़ाते हैं। अध्यापकोंके पढ़ानेकी शैली ऐसी थी जिसमें-से अध्यापनका दर्प कहीं बाहर नहीं आ रहा था। लगता था यदि पढ़नेवाले लड़के, लड़कियाँ किसी अर्थमें विद्यार्थी कहे जा सकते हैं तो प्राध्यापकको भी किसी अर्थमें यहाँ विद्यार्थी ही कहना पड़ेगा।

रवि ठाकुर जिस स्थानमें रहते थे उसका नाम था उत्तरायण। जहाँ हम लोग जाकर बैठे थे। वहाँ एक छोटा-सा सीमेण्ट और पत्थरोंका मण्डप बना हुआ था। वहीं आचार्य क्षितीन्द्रमोहन सेनजीने हमसे कहा कि रवि ठाकुर झोंपड़ीमें और मिट्टीके घरौंदेमें रहना ज्यादा पसन्द करते हैं। यह सुनकर मुझे लगा कि हम लोगोंको श्री बनारसीदास चतुर्वेदी किसी कारागारमें नहीं घसीट लाये हैं; चिंतकके तीर्थ स्थानमें ले आये हैं।

अमीरी और ग़रीबीसे परे एक निर्मल प्रतिभाशीलता वहाँ खेल रही थी, जिसमें फूलोंकी तरह मूक वाणीमें भी रंगों-भरा सुगन्धित वैभव निखरता और बिखरता रहता है और जब गुरुदेवसे उत्तरायणमें भेंट हुई

तब उनके दर्शन कर ऐसा लगा मानो विद्वद्वर डॉक्टर ताराचन्दका यह कथन सर्वदा सत्य है कि, "छायावाद और रहस्यवाद वेदान्तके ही रूप हैं।" और आज जब चरण-चरण चलते हुए विनोवा भावे यह कहते हैं कि धर्म और राजनीतिका युग समाप्त हो गया, अव तो दर्शन शास्त्र और विज्ञानका युग आ गया है, तब शान्ति-निकेतनकी यादोंकी पृष्ठभूमिमें विनोवा भावेके ये विचार बहुत ही अर्थवान् दिखायी देते हैं।

जब हम लोग लौटकर हज़ारीप्रसादजी द्विवेदी ( जो उन दिनों वहाँ हिन्दीमें आचार्य थे ) के घर आये तब हमसे किसीने कहा, "आज गुरुदेव अपने विश्व-भारतीके विद्यार्थियोंमें भाषण करने पधारनेवाले हैं तथा गुरुदेवकी यह बुरी आदत है कि वे कलकत्तेसे आये हुए अपने विरोधियोंको उक्त सभामें नहीं आने देना चाहते।" मुझे ऐसा लगा कि जगत्‌की नारेबाज़ीसे प्रभावित हम लोग स्रष्टा रवीन्द्रनाथको समझनेमें असमर्थ-से हैं। यदि स्रष्टा सचमुच माताकी तरह है, वह अपने विचारोंका प्रजनन करता है, उन्हें दुलारता और सँवारता है, उन्हें अपने अन्तःकरणसे लोगोंके अन्तःकरण-में खेलनेके लिए भिजवाता है, उन्हें घुटनेके बल झुककर नीचेसे ऊपर उठाता है, अपने अन्तरंगके रक्तका बल देकर उनका पालन-पोषण करता है, तो जगत्‌की कौन माता ऐसी है जो यह सह सकेगी कि एक ओर वह बच्चोंको जन्म दिये जाये और दूसरी ओर उनका हत्यारा उन्हें काट-काट कर टुकड़े-टुकड़े करता चला जाये।

शान्तिनिकेतनके साथ लगा हुआ श्रीनिकेतन भी मैंने देखा। उन दिनों विदेशोंसे आये हुए डॉ० गिरिवरसहायजी श्रीनिकेतनमें काम कर रहे थे। श्रीनिकेतन विश्वभारती विश्वविद्यालय शान्ति-निकेतनका वह स्थान है जहाँ गाँवकी परिचर्याके लिए लोग तैयार किये जाते हैं। सत्य ही यदि उच्चत्व गाँवोंकी सेवा करने योग्य नहीं है तो उसका अर्थ ही क्या शेष रह जाता है? यहीं आकर मालूम हुआ कि नन्दलाल बोस-जैसे बंगालके प्रख्यात कलाकारके चित्रोंसे श्रीनिकेतनकी झोपड़ियाँ सुशोभित हैं।

ग्रामीण गीतोंमें गुरुदेव वहाँ ऐसा रस लेते देखे गये मानो वह अन्य लोकके नहीं इसी लोकके प्राणी हैं। वे ग्राम-गीत अथवा ग्रामीण-गीत मधुर तो थे ही, साथ ही, यह भी सूचित करते थे कि ग्रामवासिनी भारतीयता इन गीतोंमें वाचा फोड़नेका उपक्रम कर रही है।

लगता है चिन्तन और कृषि हमारे दिमाग़ और श्रमकी ऊँचाइयोंके नाम हैं। जहाँ विचारोंसे आचार बदलनेसे इनकार करता है और आचारोंकी भीड़-भाड़में विचार ऊँचा मस्तक किये चला जा रहा है। लगता है एक सिर है, दूसरा धड़। वहाँकी वाणियाँ पुकार-पुकारकर कह रही हैं कि खेतोंको तरफ़ जाओ, खेतोंकी तरफ़ लौटो! मानो यह वाणी आचारोंसे नहीं, विचारोंसे कही जा रही है। वहाँकी गाँवको संध्यामें छोटी-छोटी टिम-टिम दानियोंको देखकर मानो हमारे घरके दारिद्र्यका भान और हमारी रचनाओंकी पहचान हुए बिना नहीं रहती।

यहाँके हरियाले गुच्छोंमें सुगन्धित फूल हमारे स्थानों-जैसे ही लगते हैं परन्तु शान्ति-निकेतन और श्रीनिकेतनकी पृष्ठभूमिमें छोटा-सा अजायबघर वहाँ मुझे बड़ा अच्छा लगा। ऐसे अजायबघर तो हमारे गाँव-गाँवमें होने चाहिए जिससे ग्रामीण लोग अपने गाँवमें होनेवाली उपजको जान सकें और अपने गाँवकी उपजका लेखा-जोखा रख सकें। उस अजायबघरमें नन्दलाल बोसकी सत्तुआ खाते हुए ग्रामीणोंकी मूर्तियाँ तथा वहाँके वातावरणकी एकत्रित वस्तुएँ मनपर ग्रामीण प्रभाव डाले बिना नहीं रहतीं। इसी तरह कपड़ेके नमूने, चित्रोंके नमूने, वन्य पशु-पक्षियोंके नमूने और वनके वृक्षों तथा फ़सलोंके स्वरूप बड़े प्यारे लगे।

इन सबको देखकर यह विचार भी आया कि इन सब वस्तुओंसे अलग रहकर रवीन्द्रनाथ ऊँची बातें कैसे कह ले जाते थे और हज़ारों वर्ष पहले भारतीय ऋषि-जीवनका दर्शन कैसे कर पाते थे। लगता है, हर बारहवें-तेरहवें वर्ष बनाये गये हमारे काव्यवादोंका मूल्य कुछ भी हो, किन्तु वेदान्त हमारी ऐसी निधि है जिससे हम दूर नहीं रह सकते और

दूर रहकर जगत्‌के लिए उपयोगी भी नहीं हो सकते। हमारी सहिष्णुता-को अनुप्राणित करनेवाले तत्त्वोंको हम असहिष्णु कैसे समझें। हवाई जहाज़-के उड़ाकेकी-सी ऊँची, कृषककी-सी विस्तृत और मल्लाहकी-सी गहरी आँखें ही हमारे पास कहाँ हैं, तव उत्पत्ति, स्थिति और विपत्तिमें हमारे वेड़े पार लगें तो कैसे ?

कविवर रवीन्द्रके शब्दोंमें, श्रीनिकेतनके स्थापित करनेका उद्देश्य यह है कि जोवनको लौटाकर अपनी पूर्णतापर गाँवोंमें लाया जाये। उन्हें कम खरचीले और आत्मनिर्भर होनेका गुर वताया जाये। उन्हें सुझाया जाये कि उनकी भी कोई इज़्ज़त है और उनकी भी रक्षा होनी चाहिए। वे अपने देशके उन सांस्कृतिक व्यवहारोंको जानें, समझें, जिससे वे वर्त्तमान आवि-ष्कारों और साधनोंका अपने आस-पास उचित उपयोग होते देख सकें। जिससे उनके शरीर वलवान हों, उनके मन वारीकसे-वारीक वातको सोच सकें और वे अपनी आर्थिक दशाको सुधार सकें।

हमारा तो उद्‌देश्य है कि अपने आस-पासके थोड़े-से गाँवोंको हम पूरी स्वतन्त्रता दे सकें। जिससे गाँवमें शिक्षणका प्रवेश हो सके और अपने आनन्दोंमें ग्रामीण अभिवृद्धि कर सकें। ग्रामीण-जैसे हमारे गायन और वाद्य और नृत्यके कार्यक्रमको देखने-सुनने, समूह बनाकर शहर आता है, वैसे ही हम उसके इन कार्योंको देखनेके लिए शीघ्रसे-शीघ्र गाँवोंमें जा सकें।

जिस तरह भूगर्भमें सूर्यकी गरमी और पृथ्वीकी रुकावटसे धीरे-धीरे ऐसे पत्थर बनने लगते हैं जिन्हें हम हीरा, पुखराज और जाने किन-किन नामोंके रत्न कहने लगते हैं, उसी तरह संयमकी रुकावटों और हृदयकी कोमलतासे साहित्यमें कविताके ऐसे रत्न बनने लगते हैं जिनकी आभासे संसार चमत्कृत हुए विना नहीं रहता और जिन्हें धारण कर वह अपनेको गौरवान्वित अनुभव करता है। कुछ लोग ऐसे रत्नोंको घिसनेकी क्रियामें अधिक निपुण होते हैं, कुछ लोग काँचके टुकड़ोंको घिस-घिसकर चौखटोंमें

जमा लेते हैं और भेद-बुद्धिसे आग्रह करते हैं कि काँचके उन्हीं घिसे-पिसे टुकड़ोंको रत्न कहा जाने लगे। कुछ स्थानोंपर शब्द उसी प्रकार बेकार लगने लगते हैं जिस प्रकार बड़ी नदियों और थोथे सरोवरोंके घाटोंपर यात्रियोंसे खाली बँधी हुई नौकाएँ बेकार दीख पड़ती हैं, क्योंकि मगरमच्छसे लेकर मछलियों तक सब कुछ गतिशील धाराके कलेवरमें बहता रहता है और हम 'कुछको' सब कुछ मानकर नौकाओंके आस-पास ही मँडराते रहते हैं।

शान्ति-निकेतन और श्रीनिकेतनमें मानो रवीन्द्रनाथत्व और गान्धीत्व साथ-साथ खेलता हुआ दीख पड़ता है। वह मानो पुकारकर कहता है कि हमारी विभिन्नतामें एकता निवास करती है। क्या ही अच्छा हो कि इस देशकी ओरसे संसारकी विभिन्नतामें एकता स्थापित हो सके और हम रवीन्द्रनाथको अच्छी तरह पहचान सकें।

भारतीय संस्कृतिका गौरव और उपनिषदीय सूत्रोंका वैभव गुरुदेवकी रचनाओंमें स्पष्ट दीख पड़ता है। लगता है, उनके रहस्यवादमें उनका दर्शन युगों-युगोंको भेंट सकनेवाली भाषामें व्यक्त हुआ है। वे निरी राष्ट्रीयताको अधिक महत्त्व नहीं दे पाते थे और उसे कभी अन्तर्राष्ट्रीयताके आड़े नहीं आने देना चाहते थे। वे चाहते थे कि :

*"जहाँ मस्तिष्क भयहीन और मस्तक ऊँचा उठा हुआ है,*
*जहाँ ज्ञान मुक्त है और विश्व संकुचित सीमाओं में विभाजित नहीं है,*
*जहाँ शब्द सत्य की गहराई में-से जन्म धारण करते हैं,*
*और जहाँ अथक यत्नशीलता सम्पूर्णता की ओर आगे बढ़ती है,*
*जहाँ विवेक की शुद्ध धारा रूढ़ियों के रेगिस्तान में मार्ग नहीं खो बैठती,*
*जहाँ मानस ऊर्ध्वमुखी होकर निन्तर विस्तार पाते हुए विचारों और क्रियाओं में आगे बढ़ता है,*

*उस मुक्ति के स्वर्गमें—*
*हे परम पिता !*
*मेरे राष्ट्र का जागरण हो !"*

हमारे बीचकी विभेदक रेखाओंको तोड़ना और नष्ट करते जाना मानो उनका वृत्त था। सारा भारतवर्ष और सम्पूर्ण जगत् ऐसे ही भेदहीन और भेद-बुद्धिरहित रवि ठाकुरके कुशल कवि और गर्वीले गद्यकारको याद करता रहता है, याद करता रहेगा।

# पण्डित मोतीलाल नेहरू

सबसे पहले पण्डित मोतीलालजी नेहरूके सम्पर्कमें आनेका सुअवसर मुझे अहमदाबादके अखिल भारतीय कांग्रेसके अधिवेशनमें मिला, जो शायद सन् १९२३ में हुआ था। उक्त अधिवेशनके सभापति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद थे। हरिजनोंके लिए किये गये, यरवदा जेलके लम्बे उपवासके बाद गान्धीजी छूटकर साबरमती आये। क्रान्तिवादी श्रीगोपीनाथ साहाके बलिदानके प्रश्नपर देशबन्धुदास और पण्डित मोतीलाल नेहरू एक तरफ़ थे और महात्मा गान्धी तथा मौलाना आज़ाद दूसरी तरफ़। स्वभावतः प्रथम तो कांग्रेस कमेटीका निर्णय स्वर्गीय श्री दास व मोतीलालजीके प्रतिकूल ही गया। पण्डित मोतीलाल नेहरूने गर्जना की, "मुझे इस कमेटीके प्रांगणसे कोई नहीं हटा सकता। यह मेरा देश है और मैं शरीरकी बोटी-बोटी इस देशपर खर्च कर दूँगा।" कितने ही उपस्थित सदस्योंके ही नहीं स्वयं महात्मा गान्धीके नेत्रोंसे उस समय जल बरस पड़ा था। भला इतनी बड़ी त्यागमयी विभूतिको छोड़कर गान्धीजी इस देशके लिए करते भी तो क्या करते? स्वयं देशबन्धु पण्डितजीकी गतिविधियोंको जाने किस तत्परतासे देख रहे थे।

अन्तमें कांग्रेस कमेटीका निर्णय वही हुआ, जिससे यह देश तो बचा ही कांग्रेस भी टूक-टूक होनेसे बच गयी। यह गान्धीजीके आँसुओंकी जीत थी या पण्डित मोतीलाल नेहरूके त्यागकी, कहना कठिन है। लगता था, गान्धीजीके आँसू उस समय बलवान भुजा बनकर, मोतीलालजीके स्नेहपर पहरा दे रहे थे। वह सचमुच, शस्त्र और शास्त्र, क्रान्तिवाद और गान्धीवाद दोनोंके एकीकरणका दुर्लभ क्षण था। उस दिन मैंने पहले-पहल मोतीलालजीको इस देशके गौरवके रूपमें देखा था।

दूसरी बार मैंने पण्डित मोतीलाल नेहरूको सन् १९२६ में देखा, तब वे काँग्रेस व राष्ट्रका कार्य करनेके लिए जबलपुर पधारे और राजा गोकुल-दासके महलमें ठहरे थे। उस समय जब वे जबलपुरसे कटनी आये और उन्होंने अपना दौरा प्रारम्भ किया तब श्रीमान् दुर्गाशंकर मेहता, सेठ गोविन्द-दास, पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र और मैं तथा अन्य लोग उनके साथ-साथ थे, किन्तु जब वे बीना होकर खण्डवाकी ओर चले तब इनमें-से केवल मैं और पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र ही उनके साथ थे। साथमें श्री रामदयाल रघुवंशी और आगराके शिरोमणि बन्धु जैसे तेजस्वी तरुण भी थे जो पण्डित मोतीलालजीके लिए स्वास्थ्यवर्द्धक वस्तुओंकी सार-सम्हार रखते थे। उस समय पण्डितजीके साथ उनके सेक्रेटरी श्रीउपाध्याय और उनके एक व्यक्तिगत सेवक थे जिन्हें वे हरि कहकर पुकारते थे।

रेलमें पण्डित मोतीलालजीके अध्ययन-क्रमको देखकर मैं हक्का-बक्का रह गया। वे अपना कुरता तक फेंककर दोनों सीटोंके बीचकी जगहमें ग़लीचा बिछाकर अपनी अध्ययन-सामग्री रखे हुए थे और उसमें निशान लगा रहे थे। रेलके चलने और ठहरनेपर वे बिलकुल ही ध्यान नहीं दे रहे थे।

उन्हीं दिनों काँग्रेसके एक प्रबल विरोधी श्री राघवेन्द्रराव शायद मन्सूरीमें पण्डित मोतीलालजीको चुनौती दे आये थे कि उन्हें (श्रीराघवेन्द्रराव को) छोड़कर मध्यप्रदेशकी काँग्रेस टुकड़े-टुकड़े हो जायेगी। अपने दौरेमें पण्डितजी इस बातकी जाँच भी करना चाहते थे। जब पण्डित मोतीलालजी खण्डवा पहुँचे तो एक नामी-गरामी नेता काँग्रेसके विरोधमें भाषण दे चुके थे। ये नेता पहले काँग्रेसी ही थे, किन्तु अपनी छह महीनेकी विदेश यात्रासे लौटकर काँग्रेस-विरोधी हो गये थे। उन्होंने खण्डवाकी जनतासे अपील की थी कि मैं इतने वर्षोंका बूढ़ा हूँ अतः मेरी बात मानकर आप काँग्रेसके फन्देमें न पड़ें। पण्डित मोतीलाल नेहरूने वकालतकी श्रेष्ठतासे अत्यन्त धीर-गम्भीर स्वरमें उन वाक्योंकी चर्चा करते हुए कहा था, "उन नेतासे मेरा कोई झगड़ा नहीं है, स्नेह ही है। किन्तु छह महीने

पहले तक वे कांग्रेसमें रहे हैं और उनका कांग्रेसके समर्थनमें वक्तव्य है। अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि हम अपने नेताकी भारतमें रहनेवाली समस्त जीवनीका सार मानें अथवा विलायतमें छह महीने रह आनेवाले नेताजीकी बात मानें। मेरा निवेदन है कि आप इस देशकी परिस्थिति जानकर वक्तव्य देनेवाले नेताजीकी बात मानें.....।" उस समय अपने मुँहसे कटु शब्द बिलकुल न निकलने देनेवाले पण्डित मोतीलालजीकी कथनीको सुनकर मेरा हृदय गद्‌गद था। मैं उन दिनों खूब तरुण था और पण्डित मोतीलालजीके धैर्यसे असन्तुष्ट। किन्तु जब चुनाव हो चुके तो कांग्रेसकी प्रचण्ड विजयके रूपमें मैंने देखा कि स्वर्गीय पण्डित मोतीलालजीका धैर्य और बोलनेका नियन्त्रण कितने बलवान् रूपमें विजयी हुआ।

एक बार मैं स्वर्गीय पण्डितजीके साथ बैतूल जा रहा था। इटारसीमें ट्रेन बदलनी थी। इटारसी स्टेशनपर तत्कालीन भारत सरकारके चार्ल्स और लेडी 'इनस' मिल गये। पण्डितजी खादीकी टोपी, खादीका कुरता और सम्पूर्ण खादी परिवेशमें बड़े भले मालूम दे रहे थे। उनका गौर वर्ण मानो खिल उठा था। उनकी खादीपर कोमल आक्षेप-सा करते हुए लेडी 'इनस'ने कहा, "पण्डितजी, खादीकी टोपी पहनकर तो आप पहचानमें ही नहीं आते।" पण्डितजीका जवाब मानो आगे आनेवाली पीढ़ीका जवाब था। वे बोले, "अरे आप मेरे इस छोटे-से परिवर्तन-से घबड़ा गयीं? हमारी आगेकी पीढ़ी तो हमारी पीछेकी पीढ़ियाँ दफ़नाकर परिवर्तन करेंगी। मैं तो इसी आशामें काम कर रहा हूँ।" पण्डितजी जब जवाब दे रहे थे, उनके चेहरेपर त्वेषका निशान नहीं था। वे अत्यन्त ठण्डे स्वरमें बोल रहे थे।

पण्डितजीके बैतूल पहुँचनेसे पूर्व होशंगाबादमें एक घटना हो गयी थी। उसकी प्रसंगवश चर्चा आवश्यक है। हुआ यह कि एक नेता होशंगाबादमें आये। नर्मदाकी पवित्र घाटीमें उनका भाषण हुआ। होशंगाबादके लोग विशेषतः जैन और वैष्णव हैं, कुछ मुसलमान भी हैं। नेताजीको इस

बातका बहुत शौक़ था कि वे जहाँ-तहाँ हिन्दू और ब्राह्मण होकर भी अपने गोश्त खानेकी चर्चा करते थे। अतः जब उनकी सभा रंगमें आयी तो एक मनचलेने उक्त नेताजी याने वक्ता महोदयसे शरारतन सभाके बीचमें खड़े होकर पूछा कि "वे सिर्फ़ गोश्त ही खाते हैं या मछली भी ?" नेताजीने सहज भावसे उत्तर दिया, "जी नहीं, मैं केवल गोश्त खाता हूँ।" नर्मदाके घाटकी उस सभाके वैष्णव और जैन यह सुनते ही एक बड़ी तादादमें वहाँसे खिसक गये, और सभाकी उपस्थिति बहुत कम रह गयी। उक्त सभाके सभापतिजीको इसपर इतने ज़ोरसे गुस्सा आया कि उन्होंने लाल सियाही-की अपनी दवात उक्त प्रश्नकर्ता तरुणपर फेंक दी। इसके शीघ्र पश्चात् बैतूलमें पण्डित मोतीलालजीसे इस घटनाका बदला चुकानेकी कोशिश की गयी। जब एक विशाल जन-सभामें पण्डितजी बोलनेके लिए खड़े हुए तब एक वकील साहबने उनसे वही होशंगाबादवाला प्रश्न दोहराया। सभापतिके स्थानपर उस सभामें कदाचित् कोई स्थानीय सज्जन बैठे हुए थे। पण्डित मोतीलालजीने प्रश्न पूछनेवाले वकील साहबको मुँहतोड़ जवाब देते हुए कहा, "चार पाँव रखनेवालोंमें मैं सिर्फ़ चारपाई नहीं खाता, उड़नेवालों-में मैं पतंग नहीं खाता और यदि आप इस देशकी स्वतन्त्रताके विरोधी हों तो मैं खड़े-खड़े इसी सभामें आपको खा सकता हूँ।" इतना कहकर पण्डितजी अपनी ज़ोरदार स्वाभाविक हँसीमें खिलखिला पड़े। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रश्नकर्ता महोदय जो कदाचित् उक्त प्रश्न करनेके ही लिए उस सभामें लाये गये थे, सभासे पलायन कर गये। लोगोंने उन्हें समझाया भी किन्तु वे किसकी मानें। वे चले गये सो चले गये।

एक बार मैंने पण्डित मोतीलालजीको आनन्द-भवन, प्रयागमें देखा। चुनावमें जीत होनेके कारण और प्रान्तका बलवान् बहुमत एकमुखी हो जानेके कारण वे अत्यन्त प्रसन्न थे : उस समय स्वर्गीय सेठ जमनालालजी और मैं दोनों ही आनन्द-भवनमें ठहरे थे। मैं सदैव इन विचारोंमें गुज़रता रहता था कि अमीरीकी ज़िन्दगीमें ग़रीबीके विचार किस तरह मिलकर रह

सकते हैं। (अभी भी इस विषयपर मैं विचार करता रहता हूं।) पण्डित मोतीलालजीने इस सम्बन्धमें अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था, "जो अपनी अमीरीकी ज़िन्दगीकी सुविधाएँ त्याग कर ग़रीबीकी सेवामें नहीं लग सकता उसके लिए इस देशमें जगह नहीं मिलेगी। उसके लिए किसी भी देशमें जगह नहीं मिलनी चाहिए।"

यद्यपि मोतीलालजी तत्कालीन युक्त प्रान्तके नामी वकीलोंमें थे, किन्तु उनकी आँखोंके सामने सदैव अपने देशका मानचित्र रहता था और अपने व्यक्तित्वको देशकी सेवामें लगा देनेकी उनकी अटूट लगन किसीसे मात खानेको तैयार न थी। लम्बा ललाट, ऊपरको उठी हुई मूँछें, पढ़ते समय आँखोंपर चश्मा, अध्ययनमें लीन हो रहनेवाला स्वभाव और अपने महल-जैसे भवनको छोड़कर गान्धीजीकी साबरमतीवाली कुटियाकी तरफ़ दौड़ लगा सकनेकी सामर्थ्य तथा अपनी सुविधाको ख़तरेमें डालकर सदैव अपनी सेवाकी लगन और उसके स्वरूपको बढ़ाते जाना—ये सब पण्डित मोतीलाल नेहरूकी ऐसी विशेषताएँ थीं जो उनकी-सी ऊँचाईके बेजोड़ महापुरुषमें ही प्राप्त हो सकती हैं।

# राजर्षिका जीवन-दर्शन

श्रद्धेय टण्डनजी जीवनके व्यवहारके महलमें आदर्शोंकी वह खिड़की हैं जिसमें-से हम युगों-युगोंके सन्तोंके आचरणको झाँककर देख सकते हैं। साथ ही, वे देशका वह सत्य हैं जो उच्च जीवन भी है और उच्च जीवनका तत्त्व-चिन्तन भी। जो अन्त:करणकी महान् विजय भी है, मानव-चरित्रका उच्चतर क़ानून भी और रीति-नीतिकी ईमानदारी भी।

लगभग पैंतीस वर्ष पहलेकी बात है, एक बार, मैं लाहौरके लाजपतराय-भवनमें श्रद्धेय लाला लाजपतरायजीसे बातें कर रहा था। उन दिनों टण्डनजी लालाजी-द्वारा संस्थापित राजनीतिक तिलक विद्यालय ( तिलक स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स ) के या तो अध्यक्ष चुने गये थे या चुने जानेको ही थे। लालाजीका कथन था कि टण्डनजी बहुत ज़िद्दी हैं और वे राजनीतिक तिलक विद्यालयके अध्यक्षके रूपमें अपनी की जानेवाली सेवाओंके लिए विशेष कुछ न लेकर वही वेतन लेना चाहते हैं जो अन्य सामान्य सदस्योंको मिलता है। उन दिनों तो इस विषयपर श्रद्धेय टण्डनजीसे कुछ पूछनेकी हिम्मत नहीं हुई, किन्तु सन् १९४३ में, जब मैं अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनका अध्यक्ष हुआ और वे गोरखपुर जेलसे छूटकर आये, तब मैंने उनसे लालाजीकी वह वर्षों पुरानी शिकायत दोहरायी। टण्डनजी साश्रुनयन हो उठे। बोले, "माखनलालजी, यह कैसे सम्भव था कि राजनीतिक तिलक विद्यालयका सभापति अन्यथा बरते। लालाजी महान् थे। उनके भारत और अमरीकामें उठाये गये भारतीय स्वतन्त्रताके कष्टोंके लिए मेरा सिर झुक जाता है। कहाँ मैं और कहाँ वे। किन्तु उन्होंने मुझे राजनीतिक तिलक विद्यालयका अध्यक्ष बनवाया और यह कैसे सम्भव हो

सकता था कि मैं रुपये-पैसेको महत्त्व दूं।"

एक बार नाभा-नरेश अपने प्रभु अँगरेज़ोंसे असन्तुष्ट हुए और उन्होंने श्रीयुत् पुरुषोत्तमदासजी टण्डनको अपने यहाँका दीवान बनाया। कहते हैं एक बार टण्डनजीने प्रयाग आनेके लिए उनसे छुट्टी माँगी, त्रिवेणीका तट और प्रयागकी भूमि उन्हें बहुत प्रिय है। स्वर्गीय नाभा-नरेशने इनकार तो नहीं किया, किन्तु टण्डनजीकी छुट्टीकी माँगपर वे बोले कुछ नहीं। टण्डनजीने तत्काल, प्रयाग पहुँचकर अपना त्यागपत्र नाभा-नरेशको भिजवा दिया। इस प्रसंगको पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदीसे प्राप्त संवादके उदाहरण-द्वारा समझा जा सकता है। कहते हैं देशके किसी महामान्य धनिक सज्जनने हिन्दी-जगत्के एक व्यक्तिको अपने एक सुप्रसिद्ध दैनिकमें नियुक्त करनेकी बात कही। उन्होंने अपनी सब सुख-सुविधाएँ भी लिख दीं जो वे उन्हें देना उचित समझते थे। पण्डित बनारसीदासजीने उक्त 'धनिक' सज्जनको लिख दिया कि मछली पकड़ोगे तो खुद खाओगे और मगर पकड़नेकी कोशिश कीजिएगा तो वह आपको खा जायेगा।

टण्डनजी अत्यन्त नम्र हैं, किन्तु राष्ट्रीय तथा भारतीय भाषाओंके गौरवकी रक्षा करनेमें वे कभी न झुकनेवाले व्यक्तियोंमें-से हैं। जब वे भाषण देने खड़े होते हैं तो अपने छोटे-छोटे उदाहरणोंमें विषयको इस तरह गूँथ देते हैं कि लोकजीवन उनका अनन्यसेवक हुए विना नहीं रह सकता। अपने सिद्धान्तोंके वे इतने पक्के हैं कि स्वराज्य मिलनेके उपरान्त एक बार हिन्दीसम्बन्धी प्रस्तावपर मत देना पड़ा तो उन्होंने काँग्रेसी नीतिके प्रतिकूल, (प्रस्तावको हिन्दीके हितमें न माननेके कारण) उसके विरोधमें संसद्में अपना मत दिया और साथ ही काँग्रेससे त्यागपत्र भी दे दिया।

मैंने तो सदा यह माना है कि टण्डनजीके द्वारा जो कुछ होकर आया वह इस देशकी राष्ट्रीयताका उच्चतर चरित्र था। इसीलिए महामना मालवीयजीने एक बार काशीधाममें (जब मैं खण्डवाके एक विद्यार्थीको

हिन्दू विश्वविद्यालयमें प्रवेश करानेके लिए गया था ) प्रसंगवश कहा था कि "पुरुषोत्तम वही बोलता है, जो उसका अन्त:करण उसे आज्ञा देता है।" भारतकी जातीयता बहुत बलवान् है कि उसके पास पुरुषोत्तमदास टण्डन-जैसा व्यक्ति मौजूद है। ज्ञान जब काला पड़ने लगता है और उद्योग जब शिथिल होने लगता है, तब टण्डनजीकी तरफ़ देखकर बल मिलता है।

लोग अकसर यह कहते सुने जाते हैं कि श्रद्धेय टण्डनजी केवल हिन्दीके बहुत बड़े भक्त हैं। किन्तु टण्डनजीने एक बार मुझसे कहा था और इस आशयके उन्होंने जहाँ-तहाँ भाषण भी दिये थे कि यदि हिन्दी भारतीय स्वतन्त्रताके आड़े आयेगी तो मैं स्वयं उसका गला घोंट दूंगा। वे हिन्दीको देशकी आज़ादीके पहले, आज़ादीके प्राप्त करनेका साधन मानते रहे हैं और मिलनेके बाद आज़ादीको बचाये रखनेका। बम्बईमें भाई कन्हैयालालजी माणिकलालजी मुन्शीके यहाँ टण्डनजी और मैं एक ही कमरेमें ठहरे हुए थे। जब मैं मराठी, गुजराती और हिन्दीका गुणगान कर रहा था और तीनोंके साम्यकी बात कह रहा था तब टण्डनजीने कहा था, "मैंने सुना है कि तमिल, तेलुगु और मलयालममें बहुत अच्छा साहित्य है। तमिल तो माखनलालजी, आप ही के देशमें नहीं बोली जाती, लंकामें एक बहुत बड़ा भाग तमिल बोलता है और सिंगापुर और मलायाका एक बहुत बड़ा भाग तमिल बोलता है। क्या बिना गुणोंके इतनी जगह भाषा बोली जा सकती है।" उस समय मैं सोचता रहा कि इस व्यक्तिको समस्त भारतवर्षका कितना खयाल रहता है ?

लोग यह सुनकर अचम्भा करेंगे कि महात्मा गान्धी मतभेदके समय भी टण्डनको बहुत मानते थे। उन्होंने एक बार कहा भी था कि हिन्दी यदि इस देशकी कीर्ति है तो इसीलिए कि पुरुषोत्तमदास-जैसे महान् व्यक्ति उसके संचालक हैं।

श्रद्धेय टण्डनजी उर्दू-कविताके बड़े हिमायती हैं। वे स्वयं उर्दू शेर बड़े चावसे पढ़ते हैं और जब वे उत्तर प्रदेश विधान-सभाके माननीय अध्यक्ष

थे तब उन्होंने अपनी नीति स्पष्ट करते हुए मुसलमान मित्रोंको अपना भाई बतलाया था। इसीलिए उनकी हिन्दीकी रीति-नीति मुसलमान भाइयोंकी समझमें तो आ सकती थी, किसी अँगरेज़की समझमें आना कठिन था। यों हिन्दी बोलनेवालोंपर यह उत्तरदायित्व है कि वे सारे जगत्का स्वागत करेंगे। इस विषयमें रूससे सबक़ सीखना चाहिए। पिछले महायुद्धमें रूस समस्त संसारके कम्युनिस्टों और कम्युनिस्ट देशोंका समर्थन करता रहा किन्तु उसने रूसकी स्वतन्त्रता, दृढ़ता और आर्थिक अवस्थाको खतरेमें नहीं पड़ने दिया। इसीलिए उसके यहाँके आविष्कार विश्वमें चमत्कार दिखा रहे हैं। और उसके यहाँके धनसे कितने ही लोगोंको सहायता मिल रही है।

हिन्दीके उन्नयनके क्षेत्रमें प्रयाग पिछले चालीस-पचास वर्षोंसे ही आगे आया। उसके पहले काशी, आगरा, बाँकोपुर, यही स्थान हिन्दीके गढ़ थे। टण्डनजी और अनेक मित्रोंने अपने त्याग और तपस्यासे प्रयागको हिन्दीका गढ़ बनाया। यदि हम सन्तवर तुलसीदासकी तरह हिन्दीका विस्तार चाहें तो हमें सन्तवर विनोबा-जैसे उन लोगोंकी क़दर करनी चाहिए जो हिन्दीमें साँस लेते हैं और अपना चिन्तन इसी भाषामें विश्वको प्रदान कर देते हैं। इसी तरह हमें टण्डनजीके अस्तित्व और प्रयत्नको समझना चाहिए। हिन्दी-वादी कहकर जिन लोगोंमें टण्डनजीका मज़ाक़ उड़ाया जाता है, वह पीढ़ी कहीं अस्तित्वमें ही नहीं है। केवल भाषणकर्त्ताओंको अपनी गालियाँ देनेके लिए सुलभ सीढ़ियाँ चाहिए इसीलिए हिन्दी शब्दका निर्माण किया गया है।

एक बार टण्डनजीने मुसकराकर कहा था कि अब तो हिन्दीको सारे राष्ट्रकी भाषा बनकर रहना पड़ेगा। उसकी विभक्ति, प्रत्ययोंमें ही नहीं संज्ञा और सर्वनामोंके रूपोंमें परिवर्तन करना पड़ेगा। क्या आप उसके लिए प्रस्तुत हैं? एक बार यह भी कहा था कि यदि हिन्दीका नाम भारती रहे तो कैसा रहेगा? यह सन्'४८ की बात है—सम्मेलनके बम्बई अधिवेशनकी।

मुझे यह सुनकर आश्चर्य नहीं हुआ और हिन्दी-जगत्को यह सुनकर गर्व हुए विना न रहेगा कि इस देशके एक प्रान्तकी गवर्नरी टण्डनजीके सामने रखी गयी, तव उन्होंने अपनी साधु-सुलभ नम्रताके साथ इनकार कर दिया। इस विषयमें उनका कथन बहुत आदरणीय था। उनके मतसे यही काम छोटा नहीं है कि हमारे प्रदेशोंमें जहाँ-जहाँ गवर्नरियाँ क़ायम हुई हैं हम वहाँके जनजीवन और गवर्नरोंकी सहायता करें। सन् १९२४ में स्व० गणेशशंकरजीके फतहपुरमें चलनेवाले राजद्रोहके मुक़दमेमें गणेशजीका वक्तव्य लिखवानेके लिए जब मैं टण्डनजीके पास कानपुरसे प्रयाग गया, तब वे प्रयागमें रहकर वकालत करते थे और उन दिनों साधुवर श्री वियोगी हरि हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्यालयमें टण्डनजीके साथ थे। उस समय टण्डनजीने जो अँगरेज़ीमें वक्तव्य लिखवाया था और जिसे गणेशजीने कुछ नगण्य परिवर्तनोंके साथ फतहपुरकी अदालतमें पेश किया था, मैंने देखा कि उस वक्तव्यके लिखवाते समय क़ानूनकी या नीति-नियमकी कोई भी झिझक टण्डनजीके चेहरेपर नहीं थी। मैं यह भी निवेदन कर दूँ कि कानपुरका 'प्रताप' उन दिनों इस देशके स्वाधीनचेता प्रवृत्तियोंका गायक और नायक था तथा श्रद्धेय पुरुषोत्तमदासजी टण्डन उस पत्रके ट्रस्टियोंमें-से एक थे।

हिन्दी कविता और हिन्दी गद्यके प्रति ही टण्डनजीका आकर्षण नहीं है, जब वे हिन्दी साहित्य सम्मेलनोंमें जाते हैं, तब हिन्दी पुस्तकोंके प्रकाशकोंकी दूकानोंपर जाकर कुछ-न-कुछ पुस्तकें अवश्य खरीदते हैं। जिन दिनों वे लाहौरमें पंजाब नेशनल बैंकके मैनेजर थे, उन दिनों वे अपने वेतनका भाग उस प्रदेशमें चलायी जानेवाली हिन्दी पाठशालाओंके लिए खर्च कर देते थे। यह बात मुझसे सन् १९४० में स्व० गोस्वामी गणेशदत्तजीने कही थी।

१९२० में पटना हिन्दी साहित्य सम्मेलनके समय तथा १९२४ में भी टण्डनजी कदाचित् डाढ़ी नहीं रखे हुए थे। वे सफ़ेद रंगका फेटा बाँधते

थे। शरीरके बाह्य आवरणकी ओर उनका कभी कोई ध्यान नहीं देखा गया। स्पष्ट दीखता है कि वे अपने शरीरके प्रति और अपने वस्त्रोंके प्रति भी अत्यन्त उदासीन हैं। जाने कबसे उन दिनों वे कच्चा भोजन करते थे। गेहूँ और चना ही नहीं, किसमिस भी भिगोकर भोजनमें लेते थे। कभी-कभी जाड़ोंमें वे काले मटमैले ऊनकी टोपी लगाते हैं। वह शुद्ध खादी-की होती है। जबसे खादी प्रारम्भ हुई है तबसे वे लगातार खादी ही पहनते हैं। आजकल वे शिरस्त्राण कुछ नहीं लेते।

टण्डनजीकी साहित्यिक प्रसिद्धि उनकी साहित्यिक सिद्धि है। यों तो उन्होंने बन्दर महाकाव्य नामका एक काव्य अवधी या बैसवाड़ी बोलीमें लिखा बताते हैं, किन्तु हिन्दीके उन्नयनमें उन्होंने अपनेको जीते-जी राष्ट्रभाषा भवनकी नींवमें गाड़ दिया-सा लगता है। इसी तरह उन्होंने पुस्तकोंका नहीं, देश और हिन्दीकी सेवा करनेवाले व्यक्तियोंका निर्माण किया है। टण्डनजीके जीवनमें ऐसा बहुत दिखायी देता है जो विरोधाभास-सा लगे। वे ऐसे जूते पहनते है जिससे चींटी भी न मरे। किन्तु जिन दिनों वे प्रयाग विश्व-विद्यालयके विद्यार्थी थे, वे वहाँकी क्रिकेट टीमके कप्तान थे। वे अँगरेज़ी और उर्दू बहुत अच्छी बोलते हैं और लिखते हैं। वे हिन्दीके इतने बड़े उन्नायक हैं कि उनके बिना हिन्दीकी चर्चा त्रिवेणीके बिना प्रयागकी चर्चाके समान है।

देशके जो क्रान्तिकारी रहे हैं, उत्तर प्रदेशके अंचलमें टण्डनजी उन तरुणोंके प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। उनके काम करनेकी ख़ूबी यह है कि किसी संस्थामें यदि पचास सदस्य हों और उस संस्थामें टण्डनजीकी रुचिका एक भी सदस्य चुनकर न आने दिया जाये तब भी वे उस संस्थाके साथ सहयोग करते रहेंगे। उनका-सा निर्वैर आदमी तथा उनके समान क्रियाशील, सहनेवाला अद्भुत व्यक्तित्व मैंने पूज्यवर गान्धीजीके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं देखा। मुझसे तो यह बात बुढ़ापे तक न सध सकी।

वे समय और काममें लगे मनको अकेले उतना अधिक नहीं चाहते;

जितना इन दोनोंको तथा अपनी गतिविधिको विचारकतासे भर देना चाहते हैं। मैंने जब टण्डनजीको देखा, उन्हें सदैव किसी-न-किसी काममें उलझे हुए पाया। और उससे अधिक किसी-न-किसी विचारमें डूबे हुए। लगता है जीवनका कोई ऐसा क़ानून है, जो इस व्यक्तिको और इसके आस-पासके वातावरणको चैनसे नहीं बैठने देता।

अपनी सन्तुलित शक्तियोंको कभी बेकार न रहने देना, अपने सारे प्रयत्नोंको केवल भारतीय स्वतन्त्रता और हिन्दीके उद्धारमें लगाना, अपने ऊँचे चरित्रसे निर्भीकतापूर्वक अपने विश्वासोंको जनजीवनके बड़ेसे-बड़े आदमीके सामने रखना, अपनी देवमूर्ति-जैसी निर्मलता, कोमलता और नम्रताको किसी भो मूल्यपर कभी भी न भूलना; जिस समय विनोदके क्षण हों, अपनी सिद्धान्तवादिताको याद रखना। शोध, व्यवसाय और साँस तीनोंको अन्तःकरणकी उच्च दिशामें चलाना, ये एक ही पुरुषोत्तमदासके थोड़े-से किन्तु अनेक स्वभाव हैं।

लगता है कोई क्षण उनका शौक़ या दिखावा नहीं है। वे ऐसा क्षण कदाचित् जानते ही नहीं जिसपर सिद्धान्तपूर्णतासे उन्होंने अपने कामकी मुहर न लगायी हो। दीर्घ यात्रा हो या अचानकका कहीं रहना, उनका जीवन तो एक समर्पित जीवन है जिसके साथ बड़ा और छोटा कोई भी खिलवाड़ नहीं कर सकता। उनके भोलेपनके कारण कितनी ही बार ऐसा लगता है मानो किसी विषयपर उनका कोई मत नहीं है किन्तु परिणामपर पहुँचनेके लिए जब-जब टण्डनजीके सामने किसीने प्रयत्न किया, उनका इमलीके बीजों-जैसा नपा-तुला मत देखने तथा सुननेको मिला। टण्डनजी ज़िद्द नहीं करते, वे आग्रह करते हैं और उसकी सच्चाईमें इतना अधिक विश्वास करते हैं कि रबड़की तरह क्षण-क्षण लचकनेवाला मनुष्य उनकी फ़ौलाद-जैसी दृढ़तासे घबड़ा जाता है।

ग़लतियोंको स्वीकारनेमें उनकी कोमलता विलम्ब तो नहीं करती किन्तु वे प्रश्नकी सब बाजुओंसे बहस करते हैं और यदि उनकी दृढ़तासे प्रश्नकर्ता

बीच ही में विषयको त्याग दे तो उसका उत्तरदायित्व टण्डनजीपर नहीं हो सकता। यों वे इस बातको भरपूर सावधानी रखते हैं कि उनकी बातों-से आगन्तुकका मन न दुखे। मैंने अपराधकी उस प्रवृत्तिमें उन्हें कभी रस लेते नहीं देखा जिसे शपथपूर्वक बात कहते हैं। वे मानते हैं कि अपराधका पक्ष लेना मस्तिष्क रखनेवालेके लिए स्वयं बड़ा अपराध है। यदि किसी समूहमें आप टण्डनजीको देखें तो टण्डनजीके स्वभाव, शील और सौजन्यके प्रति आप प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। आनन्दकी बात यह है कि कोई भी चर्चा उनकी आदत नहीं हो गयी है। संसारके समस्त गम्भीर प्रश्नोंपर वे उत्सुकतापूर्ण जिज्ञासुकी तरह विचार करते हैं। उस समय लगता है कि उनकी शक्ति त्रिवेणीको धाराकी तरह निर्मलतापूर्वक बिना रुके बहती रहती है। यह बहुत बड़ी बात है कि कच्चे और भिगोये हुए अनाजको खानेकी जिसने आदत डाली हो वह विचारोंकी और उनकी क्षय करनेवाली ताक़तकी नाशक आदतसे सदैव बचा रह सके जब कि एक आदतसे दूसरी आदत रखकर ही और उनकी सीढ़ियोंपर अपने स्वभावोंके पैर जमा-जमाकर ही मनुष्य आगे बढ़ता रहता है। लगता है उन्होंने अपनी सम्पूर्ण अधोमुखी आदतोंको ऊर्ध्वमुखी स्वभाव बना लिया है। उन्होंने अपने जीवनमें जितना सहा है, उतना कभी कहा नहीं। मानो सहते जाना वे पीढ़ियोंकी परम्परा बना देना चाहते हैं। धनकी घनिकता हो या सम्पत्ति-की घनिकता, रूपकी घनिकता हो या ज्ञानकी घनिकता वे किसीको अपने ग़रीब देशवासीपर सवार होते नहीं देख सकते। कदाचित् इसीलिए जब मैं उनके पास ठहरा, मैंने वहाँ सन्तोंका साहित्य ही पड़ा पाया।

इतनी कम आवश्यकताओंपर उन्हें जीवनकी लगन लग गयी है मानो उनका अन्तर्बाह्य सन्तत्व झांक-झांक उठता है। उनकी सांस मानो उनके अस्तित्वका वह अधिकार है, जो अपने बूते देशकी स्वतन्त्रता, विश्वके आदर्श दान और हिन्दीके उन्नयनका काम बराबर किये जायेगी। उनका जीवन डाकखानेकी मुहरकी तरह जहाँ पड़ता है, अपनी यादें छोड़ता जाता है

और वस्तुओं, संस्थाओं और व्यक्तियोंके रूपमें निर्माण कार्य किया करता है। रुपया यद्यपि उनके वचनोंपर ढेरों एकत्र हो सकता है, एक एडवोकेट-के नाते उनके मस्तिष्कमें भी अनेक ख़ूबियाँ हैं, किन्तु रुपया और मस्तिष्क-की ख़ूबियोंसे अधिक वे भारतीय संस्कृतिका मूल्य आँकते हैं और भारतीय चरित्रको इतना ऊँचा उठाना चाहते हैं कि जिसपर रुपया और मस्तिष्क-की शक्ति चढ़ायी जा सके। क्योंकि वे मानते हैं कि मस्तिष्ककी शक्ति बड़ी भले हो वह किसी देश और किसी जातिके चरित्रसे ऊँची नहीं हो सकती इसीलिए काव्य, चित्र, कलाकृति, नाटक और धर्मोपदेश इस सबसे परे पुरुषोत्तमदास टण्डन मानो ग़रीबोंके जीवनमें घुल-मिल जाना जानते हैं। जहाँतक मैं जानता हूँ, वे मानते हैं कि जीवनकी उच्चता उसका नाम है जिसके लिए क़ैफ़ियतें नहीं देनी पड़ती हैं। यही कारण है कि टण्डन-जी बापूजी-द्वारा इतने सम्मानित किये गये कि यदि कभी महात्मा गान्धीके साथ मतभेद भी हो जाता तो महात्माजी टण्डनजीको श्रेष्ठताके कारण लगातार मतभेदके विषयोंपर भी उनसे सलाह लेते रहते थे।

यदि एक हाथमें कोई सौभाग्य और दूसरेमें जनसेवा लेकर आये तो जहाँतक मैं जानता हूँ, टण्डनजी दूसरेको छातीसे लगा लेंगे और पहलेको ठुकरा देंगे। लगता है, विश्वके यथार्थ शिक्षण और संस्कृतिमें वे कोई भेद नहीं मानते। जो बात उन्हें कहनी है, वह कहते रहे हैं और कहते रहेंगे। बच्चोंसे वही कहेंगे, जवानोंसे वही कहेंगे, बूढ़ोंसे वही कहेंगे। वे भले ही ऊँचे ग्रन्थों और व्यक्तियोंके अवतरण अपने भाषणोंमें रखें, किन्तु हिन्दी-संसार तो केवल उनकी तरफ़ देखकर उनके समर्पणके स्वभावकी तरफ़ देखकर ही जीवित रहा है और जीवित रहेगा। यदि मैं हिन्दी-जगत्के हृदयको जाननेका गर्व करूँ, तो हिन्दी-हितके लिए उन्हें किसी अन्य पवि-त्रता और आदर्शवादकी आवश्यकता नहीं है। उन्हें पुरुषोत्तमदास टण्डनकी आवश्यकता है।

वे जानते हैं कि किसी जातीय संस्कृतिकी महत्ता पुस्तकोंमें जाकर

शरण भले ले ले, शब्दोंकी नदीमें कोई डूबता नहीं है, और शब्दोंकी नावसे कोई पार नहीं उतरता। इसीलिए हमारे ग्रन्थोंने यह कहा, "रास्ता वह, जो हमें ऊपरकी तरफ़ ले जाये, धर्म हमारा वह जो हमें ऊँचा उठाये और हमारा व्यक्तित्व वह जो अपने चरित्रके हाथोंसे अपनी संस्कृतिमें उसे गूँथता रहे।" इस व्यक्तिका बोलना भी बोलना है, चुप रहना भी, इस व्यक्तिका घूमना भी बोलना है, ठहर जाना भी, इस व्यक्तिका आँखें खोलना भी बोलना है, आँखें मूँद लेना भी। और उसे इस ज़मानेका ग़रीबसे ग़रीब और बेपढ़ासे बेपढ़ा व्यक्ति पढ़ सकता है। ऐसा व्यक्ति घरमें अमन-चैनसे रहते हुए भी मानो शूलीपर टँगा होता है। वह व्यक्ति नहीं रह जाता, व्यक्तित्व बन जाता है।

हिन्दी भाषा और भारतीय साहित्यके प्रति उनके विचार महात्मा-गान्धीसे बहुत कम मिलते-जुलते हैं। वे अकसर यह कहते देखे गये हैं कि महात्माजीसे झगड़ते समय मुझे अच्छा नहीं लगता। किन्तु साथ ही वे ही एक हैं जो उदारतापूर्वक महात्मा गान्धीसे लड़ सके और उसी वृत्तिसे अपने प्रतिकूल लड़नेवालोंको भी समझ सके। जो लोग पदोंकी प्राप्तिसे अपनी आखोंको चौंधियाये रखते हैं, वे भले ही उन्हें न समझ सकें किन्तु जो लोगोंमें पदोंकी प्राप्तिके समय, पिछड़े रहनेका साहस पाते हैं वे टण्डनजीके सत्योचित शील, सौजन्य और साहसको समझते रहे हैं और समझ सकेंगे। वे जानते हैं कि 'हाँ' कहनेमें जिस उत्तरदायित्वकी आवश्यकता होती है कभी-कभी 'ना' कहनेमें उससे बड़े उत्तरदायित्वकी आवश्यकता हो जाती है।

हिन्दीका जानकार यह अनुभव करता है कि जो हिन्दी इस देशकी समस्त भाषाओंके हिल-मिल जाने और उन्हें ऊँचा उठानेका उद्योग नहीं करती, जो हिन्दी देशमें रहकर अलग रहना चाहती है, जो हिन्दी अपने घेरेके बड़े होनेका गर्व कर सकती है और हिमालयकी महान् सभ्यता नहीं बन सकती तथा जो हिन्दी इस देशके प्रत्येक भाषा-भाषी और निवासीका

गौरव और तर्क नहीं बन सकती वह दरिद्री हिन्दी पुरुषोत्तमदास टण्डनकी हिन्दी नहीं है। पुरुषोत्तमदास टण्डनकी हिन्दीके सिरपर हिमालय-सा मुकुट शोभित है। सिन्धु और ब्रह्मपुत्रा उसकी भुजाएँ हैं, गंगा और यमुना उसके कण्ठहार हैं, नर्मदा और ताप्ती उसकी किंकिणी वनकर शोभित हैं, उसकी साड़ीकी किनारमें कृष्णा, कावेरी और महानदी लहर मार रही हैं और समुद्रकी तरह पुरुषोत्तमदास टण्डन केवल उसी हिन्दीके चरणोंमें पछाड़ें खा रहा है और पछाड़ें खाता रहेगा। यह कैसे सम्भव है कि बंगाल और तमिल जिसे स्वीकार न करे, महाराष्ट्र, गुजरात, आसाम और पंजाब जिसे स्वीकार न करे, वह पुरुषोत्तमदास टण्डनकी हिन्दी हो। वे हिन्दीके उसी सर्वव्याप्त महान् रूपके उपासक हैं, जिसके विषयमें सन्तवर विनोबा कहते हैं कि वाणी बन्द तो उसी राष्ट्रकी होती है जो मरने लगता है।

राजर्षि टण्डनजीको इस बातसे कुछ लेना-देना नहीं है कि हम उनका सम्मान करते हैं या नहीं करते। सम्मानके सामान सजाते कभी देखे नहीं जा सकते।

लोग न जाने क्यों राजगोपालाचारीजीको दोष देते हैं। जो हिन्दी प्रान्तोंमें हिन्दी न चलवा सके और केवल अपने अधिकारोंको सुरक्षित रखनेके लिए हिन्दीका विरोध सहते हैं, उन्हें श्री राजाजीको दोष देनेका अधिकार किस तरह है, मैं नहीं समझ पाता। शोध, प्रयोग, विस्तार और उठानकी दिशामें इस देशकी भाषाओंको अन्य देशोंकी भाषाओंसे अभी बहुत सीखना है। वह दिन धन्य होगा कि हिमालयकी तरह हम अपने ग्रन्थों-पन्थों और काव्योंमें पुरुषोत्तमदास टण्डनको याद कर सकें।

अनेक बार टण्डनजी खण्डवा पधारे हैं। जब वे अखिल भारतवर्षीय कांग्रेसके अध्यक्षके नाते खण्डवा पधारे तब स्थानीय नीलकण्ठेश्वर महा-विद्यालयमें उनका भाषण हुआ था और उनके सम्मानमें भोज दिया गया था। किन्तु एक दिन जाड़ेकी ठिठुरती सुबहमें कांपते वे राजकमल प्रकाशनके श्री ओमप्रकाशजी तथा भारती-भण्डारके श्री वाचस्पति

पाठकके साथ खण्डवा पधारे थे। उन दिनों वे स्वयं रुग्ण थे किन्तु उनकी साँस-साँस मानो लोगोंकी प्रेरणा और आशीर्वाद बनकर बँट रही थी। उनकी रुचिपर बोलनेवाला ही नहीं, उनसे प्रत्येक क्षण झगड़नेवाला व्यक्ति भी यह जानता है कि जो उदारता उनमें है वह विश्वकी दुर्लभ वस्तुओंमें-से एक है। वह टण्डनज़ीके साथ है, टण्डनजीके साथ रहेगी और उनकी अपनी वस्तु है।

श्रद्धेय पुरुषोत्तमदासजी टण्डनके सबल व्यक्तित्वको मेरे प्रणाम।*

---

*यह लेख राजर्षि टण्डनजीके निधनसे लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व लिखा गया था।
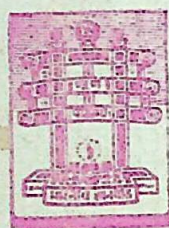
# भारतीय ज्ञानपीठ
## काशी

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

•

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन
अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५